संवर्ग-१ **भगवान ऋषभ से पार्श्व तक**

(Lord Rishabha to Parshva)

संवर्ग प्रस्तावना

संसार के विविध विषयों में इतिहास का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। विचारकों द्वारा इतिहास को धर्म, देश, जाति, संस्कृति और सभ्यता का प्राण माना गया है। जिस धर्म, देश, संस्कृति और सभ्यता का इतिहास जितना अधिक समुन्नत और समृद्ध होता है, उतना ही वह धर्म, समाज और देश उत्तरोत्तर प्रगति पथ पर अग्रसर होता है। इतिहास मानव की वह प्रेरणा है, जिससे अनुप्राणित होकर मानव प्रगति की दिशा में आगे बढ़ सकता है और अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। जैन परम्परा का भी समृद्ध और गौरवशाली इतिहास रहा है। जैन विद्या प्रथम-पत्र की प्रथम इकाई का नाम है – **'भगवान ऋषभ से पार्श्व तक'**। इस इकाई में मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है –

१. जैन धर्म और उसकी प्राचीनता
२. कालचक्र और कुलकर व्यवस्था
३. भगवान ऋषभ और भरत का अनासक्त योग
४. भगवान अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ का जीवन दर्शन

इकाई-१.१ जैन धर्म और उसकी प्राचीनता (Jain Religion and Its Antiquity)

इकाई की रूपरेखा

१.० **उद्देश्य**
१.१ **प्रस्तावना**
१.२ **जैनधर्म का स्वरूप**
  १.२.१ **जैन शब्द का अर्थ**
  १.२.२ **जैन धर्म के प्रवर्तक**
  १.२.३ **जैन धर्म सार्वभौम धर्म**
  १.२.४ **केवलज्ञानी और तीर्थंकर**
१.३ **जैन धर्म की मौलिक विशेषताएँ**
१.४ **जैन धर्म की प्राचीनता**
  १.४.१ **साहित्य के आधार पर**
  १.४.२ **पुरातत्त्व के आधार पर**
१.५ **बोध प्रश्न**

१.० उद्देश्य

'जैन धर्म और उसकी प्राचीनता' इस इकाई के अध्ययन करने के बाद आप –

- जैन धर्म और उसके प्रवर्तक के विषय में समझ सकेंगे।
- जैन धर्म में व्यक्ति की नहीं गुणों की पूजा होती है, इसे जान सकेंगे।
- जैन धर्म की मौलिक विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।
- साहित्य तथा पुरातत्त्व के आधार पर जैनधर्म की प्राचीनता का अनुमान लगा सकेंगे।

इकाई-१.१

१.१ प्रस्तावना

इस इकाई में जैन धर्म के स्वरूप और उसकी प्राचीनता पर प्रकाश डाला जा रहा है। जैन शब्द का मूल उद्गम 'जिन' है। राग-द्वेष के विजेता 'जिन' कहलाते हैं और 'जिन' भगवान के अनुयायी जैन कहलाते हैं। जैन धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर होते हैं। तीर्थंकर ही चतुर्विध तीर्थ-साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका की स्थापना करते हैं। जहाँ आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त और व्यवहार में अपरिग्रह जैन दर्शन की मौलिक विशेषताएँ हैं, वहीं आत्म-कर्तृत्ववाद, साम्यवाद, रत्नत्रय, परमात्म-पद और मानव जाति की एकता में विश्वास भी जैनदर्शन की मौलिक अवधारणाएँ हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कुछ लोग जैन धर्म को वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म की शाखा के रूप में स्वीकार करते हैं, परन्तु वर्तमान में हुए शोध-अनुसंधानों से यह ज्ञात होता है कि जैन धर्म वैदिक या बौद्ध धर्म की शाखा नहीं है अपितु एक स्वतंत्र और विश्व का प्राचीनतम धर्म है, जिसकी पुष्टि वेद, उपनिषद, पुराण जैसे प्राचीन साहित्य तथा मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त पुरातत्त्वों से होती है। इस प्रकार प्राचीन साहित्य और पुरातत्त्व के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनधर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है।

१.२ जैन धर्म का स्वरूप (The nature of Jain-Religion)

१.२.१ जैन शब्द का अर्थ (Meaning of Jain)

जैन शब्द का मूल उद्‌गम 'जिन' शब्द है। 'जिन' शब्द 'जिं-जये' धातु से निष्पन्न है, जिसका शाब्दिक अर्थ है – जीतने वाला। 'जिन' को परिभाषित करते हुए लिखा गया – **रागद्वेषादिदोषान् कर्मशत्रुंजयतीति जिनः। तस्यानुयायिनो जैनः** – राग-द्वेषादि दोषों और ज्ञानावरणीय आदि घातिकर्म-शत्रुओं को जो जीतता है, वह 'जिन' कहलाता है और 'जिन' भगवान द्वारा प्रतिपादित धर्म के मार्ग पर चलने वाला उनका अनुयायी जैन कहलाता है।

१.२.२ जैन धर्म के प्रवर्तक (Founder of Jain Religion)

जैन धर्म के प्रवर्तक 'जिन' होते हैं। 'जिन' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं, यथा –अतीन्द्रिय ज्ञानी, राग-द्वेष विजेता आदि। जैन धर्म के अनुसार धर्म-प्रवर्तक की योग्यता के लिए दो कसौटियाँ हैं –वीतरागता और केवलज्ञान। जो वीतराग है, वह केवलज्ञानी हो, यह आवश्यक नहीं है, किन्तु जो केवलज्ञानी है, वह वीतराग होगा ही। सभी केवलज्ञानी धर्म के प्रवर्तक नहीं होते, जो केवलज्ञानी तीर्थंकर होते हैं, वे ही धर्म के प्रवर्तक होते हैं।

जैन धर्म विश्व के प्राचीनतम धर्मों में से एक है। चिन्तकों के मतानुसार सृष्टिक्रम की दृष्टि से इस धर्म को 'अनादि' माना जा सकता है, किन्तु व्यवहार में युग-परिवर्तन के साथ-साथ उसके प्रवर्तक भी बदलते रहते हैं। वर्तमान कालचक्र के अनुसार जैन धर्म के प्रवर्तकों की सूची में पहला नाम है – तीर्थंकर ऋषभ का और चौबीसवां नाम है – तीर्थंकर महावीर का।

तीर्थंकर वह कहलाता है, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करता है। इस परिभाषा के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर धर्म का प्रवर्तक है। कोई भी तीर्थंकर किसी दूसरे तीर्थंकर का शिष्य या उत्तराधिकारी नहीं होता है। वह स्वयं धर्म का आदिकर या प्रवर्तक होता है।

यह एक भ्रान्त धारणा है कि भगवान महावीर ने जैन धर्म का प्रवर्तन किया। सच तो यह है कि ऋषभ से लेकर महावीर तक प्रत्येक तीर्थंकर ने धर्म का प्रवर्तन किया है। हम यह कह सकते हैं कि वर्तमान में जो धर्मशासन चल रहा है, वह तीर्थंकर महावीर का है किन्तु इस आधार पर जैन धर्म के आदि बिन्दु को महावीर तक सीमित नहीं किया जा सकता, उससे पहले भी इसका अस्तित्व था।

१.२.३ जैन धर्म : सार्वभौम धर्म (Jain Religion : Universal Religion)

जैन धर्म का मूल आधार है – जिन-प्रवचन। जिस प्रकार विष्णु को उपास्य मानने वाले वैष्णव, शिव के उपासक शैव, बुद्ध के उपासक बौद्ध और ईसा के उपासक ईसाई कहलाते हैं, उसी प्रकार 'जिन' के उपासक जैन कहलाते हैं। विष्णु, शिव, बुद्ध और ईसा की भांति 'जिन' किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं है। वे सभी महापुरुष, जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया है, जिनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र और शक्ति के आवारक तत्त्व नष्ट हो चुके हैं, चैतन्य का परम स्वरूप प्रकट हो चुका है, 'जिन' कहलाते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में 'जिन' बनने का अधिकार किसी व्यक्ति विशेष या धर्म-सम्प्रदाय तक सीमित नहीं, अपितु उन सभी को है, जो उपर्युक्त अर्हता को प्राप्त कर चुके हों।

जैन धर्म मूलतः आत्मवादी धर्म है, इसका सारा चिन्तन आत्मा को केन्द्र में रखकर ही होता है। इसमें आत्म-गुणों की पूजा की जाती है, किसी व्यक्ति की नहीं। जैन धर्म का मूल मंत्र नमस्कार महामंत्र है, जिसमें किसी व्यक्ति को नहीं अपितु उनके गुणों को नमस्कार किया गया है। यह महामंत्र इस प्रकार है –

१. णमो अरहंताणं – अरहन्तों को नमस्कार हो।
२. णमो सिद्धाणं – सिद्धों को नमस्कार हो।
३. णमो आयरियाणं – आचार्यों को नमस्कार हो।
४. णमो उवज्झायाणं – उपाध्यायों को नमस्कार हो।
५. णमो लोए सव्व साहूणं – लोक के सब साधुओं को नमस्कार हो।

इस नमस्कार महामंत्र में अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांचो को नमस्कार किया गया है। ये पांचो व्यक्ति विशेष नहीं अपितु गुणों से विशिष्ट पद हैं। चार घाति कर्मों का क्षय करने वाले अरहन्त कहलाते हैं। आठों कर्मों का नाश करने वाले सिद्ध कहलाते हैं। तीर्थंकर (अरहन्त) के प्रतिनिधि आचार्य कहलाते हैं। आगमों का अध्ययन करने और कराने वाले उपाध्याय कहलाते हैं तथा जो गृहस्थ जीवन त्यागकर पांच महाव्रतों का पालन करते हैं, वे साधु कहलाते हैं। साधना का उद्देश्य कर्म शत्रुओं का नाश कर आत्मगुणों को विकसित करना है। ये सभी आत्मगुणों को विकसित करने की साधना करते हैं। इससे यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैन धर्म में व्यक्ति को नमस्कार नहीं किया जाता, अपितु गुणों को नमस्कार किया जाता है।

तीर्थंकर – तीर्थंकर एक पारिभाषिक शब्द है। नमस्कार महामंत्र के प्रथम पद में प्रयुक्त अरहन्त तीर्थंकर कहलाता है।

❋ तीर्थंकर वह होता है, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

❋ तीर्थंकर वह होता है, जो प्रवचन करता है। धर्म के मूल तत्त्व का प्रतिपादन करता है और जिसके आधार पर शास्त्रों का निर्माण होता है।

तीर्थ का शाब्दिक अर्थ है – घाट। **'तरति संसार महार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति'** जिस प्रकार नदी को पार करने के लिए घाट बने होते हैं, उसी प्रकार संसार समुद्र को पार करने के लिए साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका – ये चार तीर्थ-घाट बने होते हैं। ये तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों का आचरण करते हुए जन्म-मरण के इस संसार-चक्र को पार कर सिद्धत्व को प्राप्त करते हैं।

१.२.४ केवलज्ञानी और तीर्थंकर (Omniscient and Teerthankars)

जैन दर्शन में केवलज्ञानी और तीर्थंकर– इन दो शब्दों का प्रयोग मिलता है। ज्ञान की दृष्टि से दोनों बराबर हैं, फिर भी हर केवलज्ञानी तीर्थंकर नहीं बनता। तीर्थंकरों की कुछ विशेषताएँ होती हैं, जो केवलज्ञानी में नहीं पायी जाती। यथा–

१. तीर्थंकर नामकर्म के उदय से तीर्थंकर बनते हैं।
२. तीर्थंकर की गणना नमस्कार महामंत्र के प्रथम पद में होती है।
३. तीर्थंकर स्वयंबुद्ध होते हैं, किसी के द्वारा प्रबुद्ध नहीं होते।
४. तीर्थंकर तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।
५. तीर्थंकर के गणधर होते हैं।
६. तीर्थंकर के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये पांच कल्याणक होते हैं।
७. तीर्थंकर जन्म से ही अवधिज्ञान (अतीन्द्रिय ज्ञान) के धारक होते हैं।
८. तीर्थंकर की माता १४ शुभ स्वप्न देखती है, आदि-आदि।

केवलज्ञानी के लिए ये बातें अनिवार्य नहीं हैं।

कुछ लोगों की यह अवधारणा है कि महापुरुष ईश्वर के अवतार होते हैं। गीता में कहा गया–

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत:।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥

जब-जब पृथ्वी पर धर्म की हानि होती है तब-तब महापुरुष अवतार लेते हैं। जैन दर्शन अवतारवाद में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार तीर्थंकर एक सामान्य बालक के रूप में ही जन्म लेता है और अपने पुरुषार्थ से चार घाति कर्मों का क्षय कर, तीर्थ की स्थापना कर, तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है और फिर शेष चार अघाति कर्मों का क्षय कर सिद्धत्व पद को प्राप्त करता है। सिद्ध बनने के बाद उसका संसार में आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है। वह अजर-अमर, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है। उसे शरीर धारण नहीं करना पड़ता। जैन दर्शन के अनुसार शरीर 'नामकर्म' के उदय से मिलता है। सिद्धों के आठों कर्मों का नाश हो जाता है, अत: शरीर धारण करने के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता। जैसा कि कहा भी है –

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुर:।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुर:॥

जिस प्रकार पूर्णरूपेण जले हुए बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के पूरी तरह दग्ध (नष्ट) हो जाने पर पुन: जन्म नहीं होता। अत: जैन दर्शन अवतारवाद में विश्वास नहीं करता।

जैन दर्शन के अनुसार कालचक्र के अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों भागों में २४-२४ तीर्थंकर होते हैं। यह कालचक्र अनादिकाल से चल रहा है। अत: तीर्थंकर की परम्परा भी अनादि है। वर्तमान अवसर्पिणी काल में २४ तीर्थंकर हुए हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं –

१. भगवान ऋषभदेव।	२. भगवान अजितनाथ	३. भगवान संभवनाथ	४. भगवान अभिनन्दन नाथ
५. भगवान सुमतिनाथ	६. भगवान पद्मप्रभु	७. भगवान सुपार्श्वनाथ	८. भगवान चन्द्रप्रभप्रभु
९. भगवान सुविधिनाथ	१०. भगवान शीतलनाथ	११. भगवान श्रेयांसनाथ	१२. भगवान वासुपूज्यनाथ
१३. भगवान विमलनाथ	१४. भगवान अनन्तनाथ	१५. भगवान धर्मनाथ	१६. भगवान शान्तिनाथ
१७. भगवान कुंथुनाथ	१८. भगवान अरनाथ	१९. भगवान मल्लिनाथ	२०. भगवान मुनिसुव्रतनाथ
२१. भगवान नमिनाथ	२२. भगवान अरिष्टनेमिनाथ	२३. भगवान पार्श्वनाथ	२४. भगवान महावीर

१.३ जैन धर्म-दर्शन की मौलिक विशेषताएँ (Main characteristic of Jain religion)

जैन दर्शन की अनेक मौलिक विशेषताएँ हैं। उनमें से कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

१. अनेकान्त – अनेकान्त जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। अनेकान्त का अर्थ है – प्रत्येक वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व होता है अत: वस्तु के किसी एक पक्ष को देखकर उसे ही पूर्ण सत्य मत समझो अपितु अपेक्षाभेद से उन सभी धर्मों को समझने का प्रयास करो।

२. अहिंसा – अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है – किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना। सामान्यत: जान से मार देने को ही हिंसा माना जाता है। जैन दर्शन में अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन करते हुए कहा गया – 'किसी प्राणी के प्राणों का हनन कर देना ही हिंसा नहीं अपितु किसी के विषय में मन से बुरा सोचना और वचन से बुरा बोलना भी हिंसा है। मन, वचन, काया की शुभ प्रवृत्ति अहिंसा है।

३. अपरिग्रह – सामान्यत: धन-धान्य, सोना-चांदी, पशु-पक्षी आदि पदार्थ परिग्रह और इनका त्याग करना अपरिग्रह कहलाता है। जैन दर्शन के अनुसार पदार्थ का होना परिग्रह और पदार्थ का न होना अपरिग्रह नहीं, अपितु पदार्थ के प्रति मूर्च्छा (आसक्ति) का होना परिग्रह और आसक्ति का नहीं होना अपरिग्रह है।

४. आत्मकर्तृत्ववाद – जैन दर्शन आत्मकर्तृत्ववादी है। उसके अनुसार सुख-दु:ख, बंधन-मोक्ष – ये सब आत्मकृत हैं, ईश्वरकृत नहीं। व्यक्ति जैसा कर्म-पुरुषार्थ करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है।

५. साम्यवाद – जैन दर्शन के अनुसार एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जगत् के सभी प्राणी स्वाभाविक शक्तियों की अपेक्षा समान हैं। उनमें जो भिन्नता दिखलाई देती है, उसका कारण कर्म का आवरण है।

६. ज्ञान-क्रिया का समन्वय – जैन दर्शन के अनुसार रत्नत्रय – सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र – इन तीनों का समन्वय ही मोक्षमार्ग है। कोरा ज्ञान या आचरण व्यक्ति को लक्ष्य तक नहीं पहुंचाता। ज्ञान के साथ क्रिया का योग होने पर ही लक्ष्य-प्राप्ति संभव है।

७. परमात्म-पद – जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की अर्हता-योग्यता है। परमात्मा कोई एक नियत व्यक्ति ही नहीं होता, प्रत्येक आत्मा अपने पुरुषार्थ से परमात्म-पद को प्राप्त कर सकता है।

८. मानव जाति की एकता – एक्का मणुस्स जाइ – मनुष्य जाति एक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में जातिगत भेद नहीं है। कार्य के आधार पर मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिए यह विभाजन किया था। इसके आधार पर किसी को ऊँच-नीच मानना उचित नहीं है।

इस प्रकार विचार में अनेकान्त, आचार में अहिंसा और व्यवहार में अपरिग्रह जहाँ जैन धर्म की मौलिक विशेषता है, वहीं आत्मकर्तृत्ववाद, साम्यवाद, रत्नत्रय, परमात्म-पद और मानव जाति की एकता में विश्वास आदि भी जैन दर्शन की मौलिक अवधारणाएँ हैं।

१.४ जैन धर्म की प्राचीनता (Antiquity of Jain Religion)

प्रवाह की दृष्टि से जैन धर्म अनादि है। समय का चक्र अनादिकाल से अबाधगति से चल रहा है। उसका प्रभुत्व सब पर है। चेतन और अचेतन – सब उससे प्रभावित हैं। धर्म भी इसका अपवाद नहीं है। धर्म शाश्वत होता है, पर उसकी व्याख्या समय के साथ बदलती रहती है। वर्तमान में जैन धर्म का उद्भव भगवान ऋषभ से माना जाता है। कुछ विद्वान इसे वैदिक धर्म की शाखा, तो कुछ इसे बौद्ध धर्म की शाखा मानते हैं। पर वर्तमान में हुए शोध-अनुसंधानों से ज्ञात होता है कि यह न वैदिक धर्म की शाखा है और न बौद्ध धर्म की शाखा है। यह एक स्वतंत्र धर्म है।

जैन धर्म वैदिक धर्म की शाखा नहीं है, क्योंकि वैदिक मत में वेद सबसे प्राचीन माने जाते हैं। विद्वान वेदों को ५००० वर्ष प्राचीन मानते हैं। वेदों में ऋषभ, अरिष्टनेमि आदि श्रमणों का उल्लेख मिलता है। वेदों के पश्चात् उपनिषद, आरण्यक, पुराण आदि में भी इनका वर्णन आया है। यदि इन ग्रन्थों की रचना से पूर्व जैन धर्म न होता, भगवान ऋषभ न होते, तो उनका उल्लेख इन ग्रन्थों में कैसे होता? इससे ज्ञात होता है कि जैन धर्म वैदिक धर्म से अधिक प्राचीन है।

जैन धर्म बौद्ध धर्म की भी शाखा नहीं है अपितु उससे प्राचीन है। जैन धर्म के प्रवर्तक भगवान महावीर हैं, यह भ्रान्त दृष्टिकोण ही इसे बौद्ध धर्म की शाखा मानने का कारण रही है। पर अब इस विषय में हुए शोधों से यह स्पष्ट हो गया कि भगवान महावीर से पूर्व भी जैन धर्म का अस्तित्व था।

डॉ. हर्मन जेकोबी ने अपने ग्रन्थ 'जैन सूत्रों की प्रस्तावना' में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। आज पार्श्वनाथ जब पूर्णत: ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध हो चुके हैं तब भगवान महावीर से जैन धर्म का शुभारम्भ मानना मिथ्या ही है। जेकोबी लिखते हैं ''इस बात से अब सब सहमत हैं कि नातपुत्त जो वर्धमान अथवा महावीर नाम से प्रसिद्ध हुए, वे बुद्ध के समकालीन थे। बौद्ध ग्रन्थों में मिलने वाले उल्लेख हमारे इस विचार को और दृढ़ करते हैं कि नातपुत्त से पहले भी निर्ग्रन्थों का जो आज अर्हत् या जैन नाम से प्रसिद्ध हैं – अस्तित्व था।''

यह सत्य है कि 'जैन धर्म' इस शब्द का प्रयोग वेदों में, त्रिपिटकों में और आगमों में देखने को नहीं मिलता, जिसके कारण भी कुछ लोग जैन धर्म को प्राचीन न मानकर अर्वाचीन मानते हैं। प्राचीन साहित्य में 'जैन धर्म' का नामोल्लेख न मिलने का कारण यह था कि उस समय तक इसे जैन धर्म के नाम से जाना ही नहीं जाता था। भगवान महावीर के पश्चात् 'जैन धर्म' इस नाम का प्रयोग सर्वप्रथम जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अपने विशेषावश्यक भाष्य में किया। उसके बाद उत्तरवर्ती साहित्य में 'जैन' शब्द व्यापक रूप से प्रचलित हुआ। ऋषभ से लेकर महावीर तक इसके प्राचीनतम नाम हमें जो उपलब्ध होते हैं, वे हैं – श्रमण, निर्ग्रन्थ, आर्हत्, व्रात्य आदि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन धर्म का मुख्य उद्देश्य है – सत्य का साक्षात्कार करना। सत्य की उपलब्धि में प्राचीन और नवीन का कोई महत्त्व नहीं होता। जिसके द्वारा आत्म-साक्षात्कार हो सके, उसी का महत्त्व होता है, फिर चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन। पर इतिहास की दृष्टि में प्राचीन और अर्वाचीन का महत्त्व होता है। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म प्राग्वैदिक है। जैन धर्म के प्राचीन होने की संपुष्टि हम दो तथ्यों के आधार पर कर सकते हैं – १. साहित्य के आधार पर, २. पुरातत्त्व के आधार पर।

१.४.१ साहित्य के आधार पर (On the basis of literature)

भारतीय साहित्य में वेद सबसे प्राचीन माने जाते हैं। वेदों में तथा उनके पार्श्ववर्ती ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्द, यथा –श्रमण, केशी, व्रात्य, अर्हत्, निर्ग्रन्थ आदि जैन धर्म की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

✻ **श्रमण** – ऋग्वेद में 'वातरशन मुनि' शब्द का प्रयोग मिलता है। ये अर्हत् ऋषभ के ही शिष्य हैं। श्रीमद्भागवत् में ऋषभ को श्रमणों के धर्म का प्रवर्तक बताया गया है। उनके लिए श्रमण, ऋषि, ब्रह्मचारी आदि विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं। वातरशन शब्द भी श्रमणों का सूचक है। **'वातरशना ह वा ऋषभः श्रमणा उर्ध्वमन्थिनो बभूतुः'** तैत्तिरीयारण्यक और श्रीमद्भागवत् द्वारा इस तथ्य की पुष्टि होती है। वहां वातरशना मुनियों को श्रमण और उर्ध्वमन्थी कहा गया है। श्रमण शब्द का उल्लेख वृहदारण्यक उपनिषद और रामायण आदि में भी होता रहा है।

✻ **केशी** – ऋग्वेद के जिस प्रकरण में वातरशन मुनि का उल्लेख है, उसी में केशी की स्तुति की गई है –

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥

अर्थात् केशी अग्नि, जल, स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान ज्योति (केवलज्ञानी) कहलाता है। यह केशी भगवान ऋषभ का वाचक है। उनके केशी होने की परम्परा जैन साहित्य में आज भी उपलब्ध है। उल्लेख मिलता है, वे जब मुनि बने तब उन्होंने चार मुष्टि-लोच कर लिया। दोनों पार्श्व भागों का केश लोच करना बाकी था तब देवराज शक्रेन्द्र ने ऋषभ से कहा – इन सुन्दर केशों को इसी प्रकार रहने दें। ऋषभ ने उनकी बात मानी और उसे वैसे ही रहने दिया। इसलिए उनकी मूर्ति के कंधों पर आज भी केशों की वल्लरिका की जाती है। घुंघराले और कंधों पर लटकते बाल उनकी प्रतिमा के प्रतीक हैं।

✻ **व्रात्य** – वैदिक साहित्य में व्रात्य संस्कृति एवं उसके तपस्वियों के उल्लेख आए हैं, जिनका विशेष संबंध श्रमण संस्कृति से होना चाहिए। व्रतों का आचरण करने के कारण वे व्रात्य कहे जाते थे। संहिता काल में व्रात्यों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। ऋग्वेद में व्रात्यों की प्रशंसा में अनेक मंत्रों की रचना की है। व्रात्यों की यह प्रशंसा ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद काल तक प्राप्त होती है। अथर्ववेद में तो स्वतंत्र **'व्रात्य सूक्त'** की रचना मिलती है। व्रात्य सूक्त के १५वें काण्ड में २२० मंत्रों द्वारा व्रात्यों की स्तुति की गई है।

ऋषभदेव की स्तुति करते हुए दो मंत्रों में उनके प्रजापति रूप और महादेव रूप की प्रशंसा इस प्रकार की गई है – ''व्रात्य राजा हुआ, उसने राज्य धर्म का प्रारम्भ किया। प्रजा, बंधु-बान्धव और प्रजातंत्र सभी का उसी से उदय हुआ। व्रात्य ने सभा, समिति, सेना आदि का निर्माण किया। व्रात्य ने फिर तप से आत्म-साक्षात्कार किया और महादेव बन गया।''

✻ **अर्हन्** – वातरशन, मुनि आदि के समान ऋग्वेद में जैनों के लिए अर्हन् शब्द का प्रयोग भी हुआ है। जो अर्हत् के उपासक थे वे आर्हत् कहलाते थे। अर्हन् शब्द श्रमण संस्कृति का बहुत प्रिय शब्द है। वे अपने तीर्थंकरों या वीतराग आत्माओं को अर्हन् कहते हैं। ऋग्वेद में अर्हन् शब्द का प्रयोग श्रमण नेता के लिए ही हुआ है –

अर्हन् विभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥

ऋग्वेद में प्रयुक्त अर्हन् शब्द से यह प्रमाणित होता है कि श्रमण संस्कृति ऋग्वैदिक काल से पूर्ववर्ती है।

यजुर्वेद में तीन तीर्थंकरों ऋषभदेव, अजितनाथ एवं अरिष्टनेमि के नामों का उल्लेख है। भागवत्पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभ जैन मत के संस्थापक थे। इस प्रकार साहित्य में उपलब्ध ये साक्ष्य जैन धर्म की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

१.४.२ पुरातत्त्व के आधार पर (On the basis of archeology)

पुरातत्त्ववेत्ता भी अब इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि भारत में वैदिक सभ्यता का जब प्रचार-प्रसार हुआ, उससे पहले यहां जो सभ्यता थी, वह अत्यन्त समृद्ध एवं समुन्नत थी। प्राग्वैदिक काल का कोई साहित्य नहीं मिलता। किन्तु पुरातत्त्व की खोजों और उत्खनन के परिणामस्वरूप कुछ नये तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। सन् १९२२ में और उसके बाद मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई भारत सरकार की ओर से की गई थी। इन स्थानों पर जो पुरातत्त्व उपलब्ध हुआ है, उससे तत्कालीन भारतवासियों के रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज और धार्मिक विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है। इन स्थानों पर यद्यपि कोई देवालय-मंदिर नहीं मिले हैं, किन्तु वहां पाई गई मुहरों, ताम्रपत्रों तथा पत्थर की मूर्तियों से उनके धर्म का पता चलता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मोहन-जो-दड़ो में कुछ ऐसी मुहरें मिली हैं, जिन पर योगमुद्रा मे योगी-मूर्तियाँ अंकित हैं। एक ऐसी मुहर भी प्राप्त हुई, जिसमें एक योगी कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानलीन है। उसके सिर के ऊपर त्रिशूल है। वृक्ष का एक पत्ता मुख के पास है। योगी के चरणों में एक भक्त करबद्ध नमस्कार कर रहा है। उस भक्त के पीछे वृषभ (बैल) खड़ा है। वृषभ के ऊपर वृक्ष है। नीचे सामने की ओर सात योगी कायोत्सर्ग की मुद्रा में भुजा लटकाये ध्यान-मग्न हैं। प्रत्येक के मुख के पास वल्लरी के पत्र लटक रहे हैं।

विद्वान उक्त मुहर की व्याख्या इस प्रकार करते हैं – भगवान ऋषभदेव कायोत्सर्ग में ध्यानारूढ़ खड़े हैं। कल्पवृक्ष हवा में हिल रहा है और उसका एक पत्ता भगवान के मुख के पास डोल रहा है। उनके सिर पर सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह त्रिरत्न रूप त्रिशूल है। सम्राट भरत भगवान के चरणों में भक्ति से झुककर आनन्दाश्रुओं से उनके चरण-प्रक्षालन कर रहे हैं। उनके पीछे वृषभ लांछन है। नीचे सात मुनि भगवान का अनुसरण करके कायोत्सर्ग की मुद्रा में ध्यानलीन हैं। जो चार हजार व्यक्ति ऋषभ के साथ मुनि बने थे, उन्हीं के प्रतीक स्वरूप ये सात मुनि हैं। ये भी कल्पवृक्ष के नीचे खड़े हुए हैं और उनके मुख के पास भी पत्ता हिल रहा है। इस मुहर की इससे ज्यादा तर्कसंगत व्याख्या कोई दूसरी नहीं हो सकती।

कायोत्सर्ग मुद्रा जैन परम्परा की ही विशेष देन है। मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में प्राप्त मूर्तियों की यह विशेषता है कि वे प्राय: कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं, ध्यानलीन हैं और नग्न हैं। खड़े रहकर कायोत्सर्ग करने की पद्धति जैन परम्परा में बहुत प्रचलित है।

धर्म परम्पराओं में योगमुद्राओं में भी भेद होता है। पर्यङ्कासन या पद्मासन जैन मूर्तियों की विशेषता है। इसी सन्दर्भ में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा – प्रभो! आपके पर्यङ्क आसन और नासाग्र दृष्टि वाली योगमुद्रा को भी परतीर्थिक नहीं सीख पाए हैं तो भला वे ओर क्या सीखेगें। प्रोफेसर प्राणनाथ ने मोहन-जो-दड़ो की एक मुद्रा पर **'जिनेश्वर'** शब्द भी पढ़ा है।

डेल्फी से प्राप्त प्राचीन आर्गिव मूर्ति, जो कायोत्सर्ग मुद्रा में है, ध्यानलीन है और उसके दोनों कंधो पर ऋषभ की भांति केश-राशि लटकी हुई है। डॉ. कालिदास नाग ने उसे जैन मूर्ति बतलाया है। वह लगभग दस हजार वर्ष पुरानी है।

मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त मूर्तियों के सिर पर नाग-फण का अंकन है। वह नाग-वंश के सम्बंध का सूचक है। सातवें तीर्थंकर भगवान सुपार्श्व के सिर पर सर्प-मण्डल का छत्र था।

इस प्रकार मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा आदि में जो ध्यानस्थ प्रतिमायें मिली हैं, वे जैन तीर्थंकरों की हैं। ध्यानमग्न वीतराग मुद्रा, त्रिशूल और धर्मचक्र, पशु, वृक्ष, नाग, ये सभी जैन कला की अपनी विशेषताएँ हैं। खुदाई में प्राप्त ये अवशेष निश्चित रूप से जैन धर्म की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

साहित्य और पुरातत्त्व के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैन धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है।

१.५ बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. जैन किसे कहते हैं?

२. तीर्थंकर किसे कहते हैं?

३. जैन दर्शन की मौलिक विशेषताएँ क्या हैं?

४. जैन धर्म के प्राचीन नाम क्या हैं?

५. जैन धर्म की प्राचीनता का आधार क्या है?

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. जैन धर्म के स्वरूप को बताते हुए उसकी मौलिक विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

२. जैन धर्म की प्राचीनता को सिद्ध करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई-१.२ कालचक्र और कुलकर व्यवस्था (The Cycle of Time and Ethical Founder)

इकाई की रूपरेखा

२.० उद्देश्य
२.१ प्रस्तावना
२.२ कालचक्र
२.३ कालचक्र के विभाग
२.४ अवसर्पिणी काल
  २.४.१ सुषम-सुषमा
  २.४.२ सुषमा
  २.४.३ सुषम-दुषमा
  २.४.४ दुषम-सुषमा
  २.४.५ दुषमा
  २.४.६ दुषम-दुषमा
२.५ उत्सर्पिणी काल
२.६ कुलकर व्यवस्था
२.७ कुलकर-दण्ड व्यवस्था
  २.७.१ हाकार दण्डनीति
  २.७.२ माकार दण्डनीति
  २.७.३ धिक्कार दण्डनीति
२.८ बोध प्रश्न

२.० उद्देश्य

'कालचक्र और कुलकर व्यवस्था' इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

* जैन दर्शन के अनुसार कालचक्र की अवधारणा को समझ सकेंगे।
* काल के प्रभाव से व्यक्ति और वस्तु की गुणवत्ता के विकास और ह्रास को जान सकेंगे।
* कालचक्र की अनादि और अनन्तता को समझ सकेंगे।
* कुलकर किसे कहते हैं ? जान सकेंगे।
* दण्ड व्यवस्था का प्रारम्भ क्यों हुआ और कुलकर के समय प्रचलित दण्डनीतियों को समझ सकेंगे।

२.१ प्रस्तावना

जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि और अनन्त काल से गतिशील है। इसका न कभी सर्वथा विनाश होता है और न ही सर्वथा उत्पाद। आंशिक विनाश और उत्पाद के कारण सृष्टि में परिवर्तन का क्रम अनादिकाल से चल रहा है। इसी केसाथ-साथ काल का चक्र भी अनादि काल से घूम रहा है। यह कालचक्र भीअखण्ड और अविभाज्य है। किन्तु व्यवहार में सुविधा के लिए इसे दो भागों में बांटा गया है – अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल। इसके भी पुन: छ:-छ: भाग हो जाते हैं। अवसर्पिणी काल में भौगोलिक परिस्थिति, मानवीय सभ्यता और संस्कृति, मनुष्यों की आयु, अवगाहना, रुचि, स्वास्थ्य, बुद्धि आदि में क्रमश: ह्रास होता है और उत्सर्पिणी काल में इनमें क्रमश: विकास होता है। अवसर्पिणी के प्रथम तीन भागों में तथा उत्सर्पिणी के अन्तिम तीन भागों में आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों के माध्यम से होती है। मनुष्यों में आवेश-आवेग नहीं होता है। धीरे-धीरे काल का पहिया जब नीचे की ओर जाता है तब कल्पवृक्षों की शक्ति का ह्रास होता है। मनुष्यों में आवेश-आवेग की भावना प्रबल होती है। अपराध बढ़ते हैं। उन पर नियंत्रण करने के लिए कुलकर व्यवस्था का प्रारम्भ होता है। 'कुलों' का मुखिया कुलकर कहलाता है। अपराध पर नियंत्रण पाने के लिए कुलकर ने तीन दण्डनीतियाँ प्रचलित की – हाकार दण्डनीति, माकार दण्डनीति और धिक्कार दण्डनीति। अन्तिम कुलकर नाभि हुए, जिनका विवेचन इस इकाई में किया जा रहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

२.२ कालचक्र (The cycle of time)

जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि काल से गतिशील है। इसकी न ही आदि है और न ही अन्त। द्रव्य की अपेक्षा से यह नित्य और ध्रुव है, किन्तु पर्याय की अपेक्षा से यह प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। परिणमन प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। सृष्टि में भी नित नये परिवर्तन होते रहते हैं। इसका न कभी सर्वथा विनाश होता है और न कभी सर्वथा उत्पाद, किन्तु उसका आंशिक विनाश होता है और उस विनाश में से ही आंशिक उत्पाद होता है। सृष्टि इस विनाश और उत्पाद के चक्र में अपने मूल तत्त्वों को संजोकर ज्यों का त्यों रखे हुए है। परिणमन का यह क्रम अनादि काल से चल रहा है।

२.३ कालचक्र के दो भाग (Two devision of time-cycle)

काल का चक्र भी अनादि काल से घूम रहा है। इस कालचक्र में भी न आदि है और न अन्त। निरन्तर घूमते रहने वाले कालचक्र में आदि और अन्त संभव भी नहीं हो सकते, अत: कालचक्र भी अविभाज्य और अखण्ड है। व्यवहार की सुविधा के लिए हम काल के विभाग कर लेते हैं। जैन दर्शन में काल को एक चक्र की उपमा दी गई है। जैसे चक्र में १२ आरे (लकड़ी के डण्डे) होते हैं, वैसे ही कालचक्र के भी १२ आरे माने गये हैं और इन्हें दो भागों में विभक्त किया गया है – १. अवसर्पिणी काल, २. उत्सर्पिणी काल।

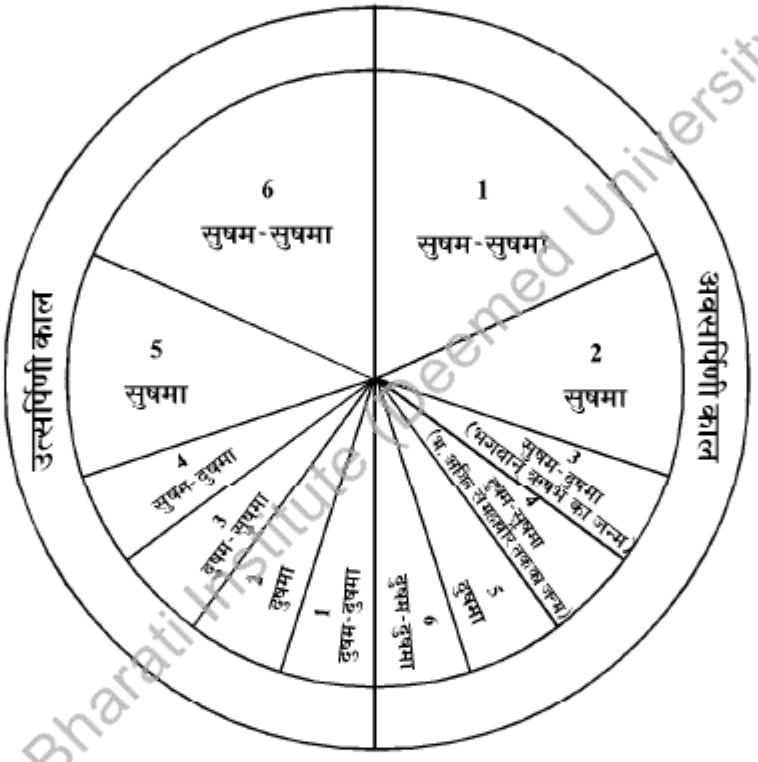

अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल

कालचक्र के बारह आरे हैं। इन बारह आरों का एक पूरा चक्र बनता है। यह कालचक्र जागतिक ह्रास और विकास का प्रतीक है। काल का पहिया जब नीचे की ओर जाता है, भौगोलिक परिस्थिति, मानवीय सभ्यता और संस्कृति ह्रासोन्मुखी बनती है। मनुष्यों की आयु, अवगाहना, रुचि, स्वास्थ्य, बुद्धि आदि में क्रमश: ह्रास होता है। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर आदि पर्यायों में अवनति होने के कारण इसे अवसर्पिणी काल कहा जाता है। काल का पहिया जब ऊपर की ओर जाता है तब भौगोलिक परिस्थिति, मानवीय सभ्यता और संस्कृति विकासोन्मुखी बनती है। आयु, अवगाहना, रुचि, स्वास्थ्य, रूप, रस, गंध आदि पर्यायों में क्रमश: विकास होने के कारण इसे उत्सर्पिणी काल कहा जाता है। इसे सर्प के उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे सर्प मुंह से पूंछ तक क्रमश: पतला होता जाता है। यदि नीचे पूंछ से चालू करें तो मुंह तक वह क्रमश: मोटा होता जाता है। उसी प्रकार अवसर्पिणी काल ऊपर से नीचे की ओर चलता है अर्थात् इस काल में पहले खूब विकास और फिर धीरे-धीरे क्रमश: ह्रास होता जाता है तथा उत्सर्पिणी काल नीचे से ऊपर की ओर चलता है। इस काल में पहले खूब ह्रास और फिर धीरे-धीरे क्रमश: विकास होता जाता है।

काल विभाग को हम घड़ी की सुई से आसानी से समझ सकते हैं। घड़ी के डायल में सुई बारह के बाद छह तक नीचे की ओर जाती है और छह के बाद बारह बजे तक ऊपर की ओर जाती है। ठीक इसी प्रकार अवसर्पिणी काल में जीवों में आयु, अवगाहना आदि का ह्रास होता है और उत्सर्पिणी काल में जीवों में इनका विकास होता है। जिस प्रकार शुक्ल पक्ष में द्वितीया का चन्द्रमा क्रमश: वृद्धि करते-करते पूर्णिमा के दिन पूर्ण चन्द्र बन जाता है और कृष्ण पक्ष में वही चन्द्रमा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

क्रमशः क्षय होता हुआ अमावस्या की अंधेरी रात्रि में अस्तित्व विहीन-सा हो जाता है, पुनः शुक्ल पक्ष में विकास का क्रम शुरू हो जाता है। उसी प्रकार अभ्युदय के पश्चात् अभ्युत्थान एवं अभ्युत्थान की पराकाष्ठा के बाद अधःपतन का प्रारम्भ हो जाता है और उसके बाद क्रमशः पूर्णपतन हो जाता है। इस प्रकार चराचर जगत का अनादिकाल से यह क्रम चल रहा है और यह कालचक्र भी उसके साथ सतत गतिशील है। एक कालचक्र २० कोड़ाकोड़ सागर का होता है।

कालचक्र

अवसर्पिणी काल	उत्सर्पिणी काल
१. सुषम-सुषमा	१. दुषम-दुषमा
२. सुषमा	२. दुषमा
३. सुषम-दुषमा	३. दुषम-सुषमा
४. दुषम-सुषमा	४. सुषम-दुषमा
५. दुषमा	५. सुषमा
६. दुषम-दुषमा	६. सुषम-सुषमा

आचार्य महाप्रज्ञ ने ऋषभायण में कालचक्र का सुन्दर विवेचन किया है –

परिवर्तन का हेतु काल, वह
जल प्रवाह ज्यों बहता है,
द्वादशार यह कालचक्र
गतिशील निरन्तर रहता है।
अवसर्पण में वस्तु-गुणों का
होता है क्रम-क्रम से ह्रास,
उत्सर्पण में उनका होता
उसी नियम से क्रमिक विकास॥

२.४ अवसर्पिणी काल (Regressive half cycle)

अवसर्पिणी काल १० कोटि-कोटि सागर का होता है। इसके छह विभागों का विवेचन इस प्रकार है –

२.४.१ सुषम-सुषमा (Extremely happy)

अवसर्पिणी काल के प्रथम आरे का नाम है – सुषम-सुषमा। सुषम-सुषमा अर्थात् सुख ही सुख। प्रथम आरा चार कोटि-कोटि सागर का था। उस समय भूमि स्निग्ध थी। वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श अत्यन्त मनोज्ञ थे। मिट्टी की मिठास आज की चीनी से अनन्त गुना अधिक थी। कर्मभूमि थी, किन्तु अभी कर्मयुग का प्रवर्तन नहीं हुआ था। मनुष्य असि-मसि-कृषि आदि कर्म नहीं करते थे। उस समय गांव, नगर, घर, दुकान आदि नहीं होते थे। न कोई राजा था न कोई सेवक और न कोई दण्ड-व्यवस्था। सब लोग स्वतन्त्र जीवन जीते थे। आवश्कताएँ बहुत सीमित थी। न खेती होती थी न कपड़ा बनता था और न मकान बनते थे। रोटी, कपड़ा और मकान के साधन कल्पवृक्ष थे। कल्पवृक्ष अर्थात् ऐसे वृक्ष, जिनके पास जाकर जो इच्छा करते वह तत्काल पूरी हो जाती थी। दस प्रकार के कल्पवृक्षों का उल्लेख मिलता है।

१. **मातंग** – शक्तिवर्धक रसों का फल देते हैं।
२. **भृङ्ग** – रत्न स्वर्णमय बर्तन देते हैं।
३. **त्रुटितङ्ग** – ४९ प्रकार के बाजे तथा राग-रागनियां सुनाते हैं।
४. **दीप** – दीपक के समान प्रकाश करते हैं।
५. **ज्योति** – सूर्य के समान प्रकाश करते हैं।
६. **चित्रक** – विचित्र प्रकार की पुष्पमालाएँ देते हैं।
७. **चित्ररस** – अठारह प्रकार के सरस भोजन देते हैं।
८. **मण्यङ्ग** – स्वर्ण, रत्नमय आभूषण देते हैं।
९. **गेहाकार** – मनोहर महल उपस्थित करते हैं।
१०. **अनग्न** – सूक्ष्म और बहुमूल्य वस्त्र देते हैं।

इन दस प्रकार के वृक्षों से सारी आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थीं। भोजन की मात्रा बहुत कम थी। तीन दिन के अन्तराल से अरहर की दाल जितनी सी वनस्पति खाते और तृप्त हो जाते थे। उनके कषाय शान्त थे। मन में विकार नहीं होता था। इसलिए उनका जीवनकाल बहुत लम्बा होता था। वे तीन पल्य तक जीते थे। अकाल मृत्यु कभी नहीं होती थी। व्याधि-आधि-उपाधि नहीं थी। वातावरण की अत्यन्त अनुकूलता थी। सभी मनुष्य बड़े ही भद्र और शांतिप्रिय होते थे, उनमें परस्पर लड़ाई-झगड़े कभी नहीं होते थे। सिंघ, बाघ, सांप, अजगर आदि हिंसक जंतु होते तो थे, पर उनका मनुष्यों पर कोई उपद्रव नहीं होता था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यह युग यौगलिक युग था। मरने से कुछ मास पहले स्त्री पुत्र-पुत्री का एक युगल (जोड़ा) उत्पन करती थी और ४९ (उनचास) दिन पालन पोषण करती। फिर एक छींक या जम्हाई के साथ माता-पिता की मृत्यु हो जाती और वे पुत्र-पुत्री बड़े होकर पति-पत्नी के रूप में परिणत हो जाते थे। एक साथ युगल रूप में जन्म लेने के कारण ये मनुष्य यौगलिक कहे जाते थे। इनका शरीर तीन गाउ (कोश) ऊँचा था। शरीर का वज्रऋषभनाराच संहनन था। इस प्रकार चार कोटि-कोटि सागर (असंख्येय काल) का एकान्त सुखमय पर्व सुषम-सुषमा बीत गया।

२.४.२ सुषमा (Happy)

अवसर्पिणी काल के द्वितीय आरे का नाम है – सुषमा। तीन कोटि-कोटि सागर का यह आरा शुरु हुआ। धीरे-धीरे ह्रास का क्रम प्रारम्भ हुआ। भोजन दो दिन के अन्तराल से होने लगा। भोजन की मात्रा भी बेर के फल जितनी हो गई। जीवनकाल दो पल्य का हो गया और शरीर की ऊँचाई दो गाउ की रह गई। सन्तान का पालन पोषण ६४ (चौसठ) दिन तक होने लगा। शेष वर्णन पहले आरे के समान ही है, लेकिन क्रमश: हानि होती जा रही थी। इस हानि का कारण था भूमि और पदार्थों की स्निग्धता में कमी।

२.४.३ सुषम-दुषमा (More happy than unhappy)

अवसर्पिणी काल के तृतीय आरे का नाम है – सुषम-दुषमा। सुषम-दुषमा अर्थात् सुख ज्यादा पर थोड़ा दु:ख भी। दो कोटि-कोटि सागर का यह तीसरा आरा शुरू हुआ। इस सुख-दुखमय पर्व में ह्रास का क्रम और आगे बढ़ा। भोजन एक दिन के अन्तराल से होने लगा। उसकी मात्रा भी बढ़कर आंवले के फल के बराबर हो गई। जीवन का कालमान एक पल्य हो गया। शरीर की ऊँचाई एक गाउ की हो गई। पुत्र-पुत्री का पालन ७९ (उन्यासी) दिन तक होता था। क्रमश: हानि होते-होते तीसरे आरे के अन्तिम भाग में कल्पवृक्षों ने फल देने में काफी कमी कर दी, अत: यौगलिक आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। सहज समृद्धि का क्रमिक ह्रास होने लगा। पदार्थों की स्निग्धता में बहुत कमी हुई। भूमि का रस जो चीनी से अनन्त गुना मीठा था, वह कम होने लगा। उसके वर्ण, गंध और स्पर्श की श्रेष्ठता भी कम हुई। सहज नियम टूटने लगे। तब कुलकर व्यवस्था आई। भगवान ऋषभ का जन्म भी इसी युग में हुआ। अवसर्पिणी का पहला, दूसरा और तीसरा आरा यौगलिक युग कहलाया। तीसरे के अन्त में युगल व्यवस्था समाप्त होने लगी। सृष्टि में भारी परिवर्तन हुआ। यह यौगलिक व्यवस्था के अन्तिम दिनों की कहानी है।

२.४.४ दुषम-सुषमा (Unhappy-cum-happy)

अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरे का नाम है – दुषम-सुषमा। यह ४२ हजार वर्ष कम एक कोटि-कोटि सागर का था। इसमें जैन धर्म के भगवान अजित से महावीर तक तेईस तीर्थंकर हुए। इस आरे के तीन वर्ष साढ़े आठ महीने शेष रहने पर भगवान महावीर का निर्वाण हुआ। इस आरे के आरम्भ में मनुष्यों की आयु एक करोड़ पूर्व की थी, अवगाहना पांच सौ धनुष की थी और भोजन एक दिन में एक बार होता था।

२.४.५ दुषमा (Unhappy)

अवसर्पिणी काल के पंचम आरे का नाम दुषमा है। वर्तमान में अवसर्पिणी का पंचम आरा चल रहा है। यह आरा इक्कीस हजार वर्ष का है। इसमें जन्मे हुए मनुष्य के लिए बारह बातें विच्छिन्न हो गयीं, यथा – मन:पर्यव ज्ञान, परम अवधिज्ञान, पुलाकलब्धि, आहारक शरीर, क्षपकश्रेणी, उपशमश्रेणी, जिनकल्पित्व, परिहारविशुद्धि चारित्र, सूक्ष्मसंपराय चारित्र, यथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान, सिद्धिगमन। इस काल के मनुष्यों में किसी प्रकार का विशिष्ट सामर्थ्य, ऋद्धि अथवा लब्धि प्राय: नहीं होगी – न विशिष्ट ज्ञान, न दृढ़ संकल्पशक्ति और न उत्कृष्ट चारित्र। अत: इस काल में जन्मा व्यक्ति मोक्ष नहीं जा सकेगा।

इसके अलावा पुराने नगर गांव जैसे हो गये और गांव शमशान जैसे हो गये। उद्दण्डता, दुराचार, भ्रष्टाचार भी बढ़ा। बार-बार दुष्काल पड़ने लगा। प्रारम्भ में मनुष्य की आयु सौ वर्ष या उससे कुछ अधिक की थी। अवगाहना सात हाथ की थी, किन्तु क्रमश: घटती-घटती अन्त में आयु बीस वर्ष की एवं अवगाहना एक हाथ की रह जायेगी। उत्तम पदार्थ प्राय: नष्ट हो जायेंगे। अन्तिम दिन इन्द्र भगवान घोषणा करेंगे। करना हो सो कर लो, कल छठा आरा प्रारम्भ होगा और प्रलय हो जायेगा। इन्द्र की बात सुनकर दुप्पसह साधु, फाल्गुनी साध्वी, नागिल श्रावक और सत्यश्री श्राविका जो उस दिन विद्यमान होंगे, अनशन करके स्वर्ग में चले जायेंगे। श्रावण बदी एकम को छठा आरा शुरू हो जायेगा।

२.४.६ दुषम-दुषमा (Extremely unhappy)

दुषम-दुषमा नामक छठा आरा भी इक्कीस हजार वर्ष का होगा। उसके प्रारम्भ में जहर, अग्नि आदि की भीषण वृष्टियां (बरसात) होंगी। जिसमें अनेक प्राणी मर जायेंगे। शेष मनुष्य भयभीत होकर बिलों में जाकर निवास करेंगे। वे पशुओं की तरह नग्न ही रहेंगे। उनकी आयु उत्कृष्ट बीस वर्ष की होगी। परिवार बहुत ज्यादा होगा। पांच वर्ष की स्त्री गर्भ धारण कर लेगी। काम-वासना ज्यादा होगी। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की अधिकता के कारण वे हर समय लड़ते-झगड़ते रहेंगे। उस समय फल, शाक, अनाज आदि नहीं होंगे। खाने के लिए मात्र मच्छ-कच्छप आदि जल-जन्तु मिलेंगे। दिन में गर्मी अधिक होगी, रात को सर्दी अधिक होगी। इस काल के प्राणी घोर पापों का उपार्जन करने के कारण मरकर नरक या तिर्यञ्च गति में जायेंगे।

इस प्रकार १० कोटि-कोटि सागर का यह अवसर्पिणी काल होगा। इन छहों आरों का संक्षिप्त विवेचन इस चार्ट से हम समझ सकते हैं –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

२.५ उत्सर्पिणी काल (Progressive half cycle)

अवसर्पिणी काल की भांति उत्सर्पिणी काल के भी छह विभाग हैं परन्तु वे अवसर्पिणी से सब प्रकार से उलटे हैं। अवसर्पिणी में जहां विकास से क्रमश: ह्रास की ओर जाते हैं, वहां उत्सर्पिणी में ह्रास से क्रमश: विकास की ओर जाते हैं। इसका कालमान भी १० कोटि-कोटि सागर है।

आरा	युग	समय	अवगाहना	आयु	भोजन	पालन-पोषण	मृत्यु उपरान्त गति	कल्पवृक्ष
1	यौगलिक	4 कोटि-कोटि सागर	3 गाउ	3 पल्य	3 दिन से एक बार	49 दिन	देव गति	10
2	यौगलिक	3 कोटि-कोटि सागर	2 गाउ	2 पल्य	2 दिन से एक बार	64 दिन	देव गति	10
3	यौगलिक	2 कोटि-कोटि सागर	1 गाउ	1 पल्य	1 दिन से एक बार	79 दिन	चारों गति + मोक्ष	10
4	x	42 हजार कम 1 कोटि-कोटि सागर	500 धनुष	1 करोड़ पूर्व	दिन में एक बार	—	चारों गति + मोक्ष	x
5	x	21 हजार वर्ष	सात हाथ	सौ से अधिक वर्ष	एक से ज्यादा बार	—	चारों गति	x
6	x	21 हजार वर्ष	एक हाथ	20 वर्ष	एक से ज्यादा बार	—	नरक या तिर्यञ्च	x

पहला आरा दुषम-दुषमा ठीक छठे आरे के समान इक्कीस हजार वर्ष का होगा लेकिन इसमें आयुष्य, बल, सुख आदि की क्रमश: वृद्धि होगी जबकि छठे आरे में क्रमश: हानि हो रही थी। इसके आरम्भ में मनुष्यों की आयु सोलह वर्ष की होगी और अवगाहना एक हाथ से कुछ कम होगी तथा अन्त में बढ़कर आयु बीस वर्ष और अवगाहना एक हाथ की हो जायेगी।

इस प्रकार उत्सर्पिणी काल के छहों आरों का विवेचन अवसर्पिणी काल के समान ही समझना चाहिए। अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी ऐसे अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीरूप कालचक्र अनादि काल से चलता आ रहा है और सदा चलता रहेगा। यह काल की अपेक्षा से अनादि-अनन्त माना गया है।

२.६ कुलकर व्यवस्था (Ethical founder)

अवसर्पिणी काल का पहला, दूसरा और तीसरा आरा यौगलिक युग था। यौगलिक युग में मनुष्य श्रम नहीं करते थे, क्योंकि उन्हें श्रम की आवश्यकता ही नहीं थी। सभी आवश्यकताएँ कल्पवृक्षों से पूरी हो जाती थी। कल्पवृक्ष भी इतने थे कि उन पर अपना अधिकार करने की इच्छा किसी में उत्पन्न ही नहीं होती थी। कषाय उपशांत होने के कारण किसी में ईर्ष्या नहीं थी, ऊँच-नीच की भावना भी नहीं थी। जनसंख्या सीमित थी। हर युगल दम्पति के एक ही युगल पुत्र-पुत्री के रूप में उत्पन्न होता था। यह क्रम पूरे यौगलिक काल में चलता रहा। तीसरे आरे के अन्त में युगल व्यवस्था समाप्त होने लगी। तीसरे आरे का अन्तिम भाग कर्मयुग का शैशव काल था। उससे पूर्व समाज संगठन नहीं हुआ था और राज्य-व्यवस्था की तो बात ही दूर थी। सृष्टि में भारी परिवर्तन हुआ। आयु घटने लगी, भूख बढ़ने लगी। कल्पवृक्षों का क्रमश: विलोप होने लगा और उनकी क्षमता कम होने से खाने-पीने, रहने तथा अन्य जीवनोपयोगी सामग्री अपेक्षा से कम उपलब्ध होने लगी। वस्तुओं के अभाव में वे चिंतित हुए। शक्ति-सम्पन्न लोगों ने कल्पवृक्षों पर अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया। परस्पर छीना-झपटी चलने लगी। पूरे यौगलिक क्षेत्र में आतंक व्याप्त हो गया। अपराधी मनोवृत्ति के बीज अंकुरित होने लगे। सर्वत्र अव्यवस्था छा गई। अपराध और अव्यवस्था ने उन्हें एक नयी व्यवस्था की प्रेरणा दी। उसके फलस्वरूप 'कुल' व्यवस्था का विकास हुआ। लोग 'कुल' के रूप में संगठित होकर रहने लगे। उन कुलों का एक मुखिया होता वह कुलकर कहलाता। मुख्य कुलकर सात हुए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं– १. विमलवाहन, २. चक्षुष्मान, ३. यशस्वी, ४. अभिचन्द्र, ५. प्रसेनजित, ६. मरुदेव, ७. नाभि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

२.७ दंड व्यवस्था (Penal code)

तीसरे आरे के अन्त में जो अव्यवस्था हुई, उसे व्यवस्थित करने के लिए कुलकर व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। विमलवाहन प्रथम कुलकर के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने सबके लिए एक निश्चित संविधान बनाया और उसका उल्लंघन करने वालों के लिए दण्ड देने की घोषणा की। कुलकर व्यवस्था में तीन दण्डनीतियां प्रचलित हुई।

१. हाकार दण्डनीति।

२. माकार दण्डनीति।

३. धिक्कार दण्डनीति।

२.७.१ हाकार दण्डनीति (Hākār Punishment)

प्रथम कुलकर विमलवाहन ने **हाकार दण्डनीति** का प्रवर्तन किया। इससे पहले कोई दण्ड नहीं था, दण्डनीति नहीं थी। सभी मनुष्य स्वयं अनुशासित और लज्जाशील थे। पर कालचक्र के प्रभाव से जब अनुशासनहीनता बढ़ने लगी तब हाकार दण्डनीति के द्वारा समाज को अनुशासित बनाया गया। जब कोई यौगलिक मान्य मर्यादा का अतिक्रमण करता तो उसे मात्र इतना कहा जाता 'हा! तूने यह काम किया है।' उस समय यह दण्ड मृत्युदण्ड से भी ज्यादा माना जाता था। इस दण्डनीति से दण्ड देने पर सारे अपराध समाप्त हो जाते थे। दूसरे कुलकर चक्षुष्मान तक यह हाकार दण्डनीति प्रभावी रही। धीरे-धीरे फिर यह अपना प्रभाव खोने लगी। अपराधी पर हाकार दण्डनीति का कोई असर नहीं पड़ता। अपराध बढ़ने लगे।

२.७.२ माकार दण्डनीति (Mākār Punishment)

तीसरे कुलकर यशस्वी के समय हाकार दण्डनीति प्रभावहीन हो गई। अपराधी को 'हा' कहने से काम नहीं चलता तब यशस्वी ने दूसरी **माकार दण्डनीति** का सूत्रपात किया। 'हा' के स्थान पर 'मा' शब्द का प्रयोग किया गया। अपराधी को कुछ उच्च स्वर में 'मा' अर्थात् मत करो। ऐसा कहा जाता। इससे अपराधी अपराध करना छोड़ देते। छोटे अपराध में हाकार दण्डनीति का प्रयोग किया जाता था और बड़े अपराध में माकार दण्डनीति का प्रयोग किया जाने लगा। यह माकार दण्डनीति तीसरे और चौथे कुलकर तक प्रभावी रही।

२.७.३ धिक्कार दण्डनीति (Dhikkār Punishment)

पांचवें कुलकर के समय माकार दण्डनीति ने भी अपना प्रभाव खो दिया। हाकार और माकार दण्डनीति के निष्प्रभावी होने पर कुलकर प्रसेनजित ने **धिक्कार दण्डनीति** का आविर्भाव किया। बड़ा अपराध होने पर 'धिक्कार है तुझे कि तूने ऐसा किया' कहा जाता। यह दण्डनीति पांचवें से सातवें कुलकर तक चलती रही। जहां सामान्य अपराध होता वहां 'हाकार' दण्डनीति बरती जाती, जहां अपराध थोड़ा गंभीर होता, वहाँ 'माकार' दण्डनीति का प्रयोग होता तथा जहाँ अपराध ज्यादा गम्भीर होता, 'धिक्कार' दण्डनीति का प्रयोग होता। इससे अपराध शान्त हो जाते।

इस प्रकार कुलकर इन तीन दण्डनीतियों से यौगलिकों की समस्याओं का समाधान करते। धीरे-धीरे कल्पवृक्ष और कल्पवृक्षों की क्षमता बहुत कम होने लगी। खाद्य-समस्या का कोई सार्थक उपाय नहीं सोचा गया। इसलिए सातवें कुलकर के समय में ये दण्डनीतियां भी निस्तेज होने लगी। समस्याएँ बढ़ने लगी। इनका निराकरण न कर पाने के कारण नाभि खिन्न हो गए। उसी समय में ऋषभ का जन्म हुआ।

२.८ बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. एक कालचक्र का समय कितना है?

२. कल्पवृक्ष किसे कहते हैं?

३. अवसर्पिणी काल किसे कहते हैं?

४. कुलकर किसे कहते हैं?

५. हाकार दण्डनीति से क्या तात्पर्य है?

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. जैनदर्शन के अनुसार कालचक्र की अवधारणा को स्पष्ट करें।

२. कुलकर किसे कहते हैं? उनके समय में प्रचलित दण्डनीतियों का विवेचन करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई-१.३ भगवान ऋषभ का जीवन-दर्शन (Lord Rishabha)

इकाई की रूपरेखा

३.० उद्देश्य
३.१ प्रस्तावना
३.२ भगवान ऋषभ
३.३ ऋषभ का जन्म
३.४ ऋषभ का नामकरण
३.५ ऋषभ का वंश
३.६ ऋषभ का विवाह
३.७ ऋषभ की संतान
३.८ ऋषभ का राज्याभिषेक
३.९ शासन व्यवस्था का विकास
३.१० धर्मानुकूल लोक व्यवस्था
  ३.१०.१ असिकर्म शिक्षा
  ३.१०.२ मसिकर्म शिक्षा
  ३.१०.३ कृषिकर्म शिक्षा
३.११ कला-प्रशिक्षण
३.१२ वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ
३.१३ ग्राम व्यवस्था
३.१४ सामाजिक परम्पराओं का सूत्रपात
३.१५ पुत्रों को राज्य-विभाजन एवं अभिनिष्क्रमण
३.१६ साम्राज्य-लिप्सा
३.१७ भरत-बाहुबलि के बीच युद्ध
३.१८ भरत का अनासक्त योग
३.१९ ऋषभ का निर्वाण
३.२० बोध प्रश्न

३.० उद्देश्य

'भगवान ऋषभ का जीवन दर्शन' इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

- ऋषभ के जीवन-दर्शन से परिचित हो सकेंगे।
- ऋषभ के द्वारा निर्धारित की गई दण्ड-व्यवस्था से परिचित हो सकेंगे।
- समस्याओं के समाधान के लिए प्रदत्त असि, मसि, कृषि कर्म की शिक्षा को जान सकेंगे।
- ऋषभ ने जिन सामाजिक परम्पराओं का सूत्रपात किया, उसे समझ सकेंगे।
- ऋषभ के पुत्र भरत और बाहुबलि के बीच हुए युद्ध को जान सकेंगे।
- भरत का अनासक्त योग उसे मोक्ष तक ले गया, इस बात को समझ सकेंगे।

३.१ प्रस्तावना

भगवान ऋषभ का जन्म यौगलिक युग के अन्त में हुआ था। इनकी माता का नाम मरुदेवा तथा पिता का नाम नाभि था तथा वंश इक्ष्वाकु था। सुनन्दा और सुमंगला इन दो कन्याओं के साथ ऋषभ का विवाह हुआ तथा इनके सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। कुलकर व्यवस्था के बाद ऋषभ प्रथम राजा बने। राजा बनते ही बढ़ते हुए अपराधों को दूर करने के लिए ऋषभ ने चार प्रकार की दण्ड व्यवस्था की तथा जनता को असि-मसि-कृषि कर्म का प्रशिक्षण दिया। अपने पुत्र-पुत्रियों को भी अनेक कलाओं में पारंगत कया। क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र आदि वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ तथा अनेक सामाजिक परम्पराओं का सूत्रपात भी ऋषभ ने किया। अपने जीवन का अधिकतम समय सामाजिक और राजनैतिक मूल्यों की स्थापना में व्यतीत किया। फिर राज्य का विभाजन अपने सौ पुत्रों के बीच कर जीवन के अन्तिम वर्षों में अभिनिष्क्रमण कर साधना की और धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया। ऋषभ के बड़े पुत्र भरत में चक्रवर्ती बनने की भावना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रबल हुई। सभी भाइयों के राज्यों पर उसने अपना अधिकार किया। बाहुबलि ने बिना युद्ध किये राज्य देना स्वीकार नहीं किया। दोनों के बीच युद्ध हुआ। युद्ध में बाहुबलि विजित हुए। बाहुबलि ने भी अन्त में अपने पिता के पंथ का अनुगमन करते हुए श्रमण धर्म को स्वीकार किया। चक्रवर्ती भरत सम्पूर्ण राष्ट्र पर अखण्ड शासन करते हुए भी राज्य के प्रति अनासक्त थे। उनकी इस अनासक्ति ने उन्हें भी बंधन से मुक्ति की भूमिका तक पहुँचा दिया, जिनका विवेचन इस इकाई में किया गया है।

३.२ भगवान ऋषभ (Lord Rishabha)

जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ का जन्म यौगलिक संस्कृति के अन्त में हुआ था। वे मानव समाज के आदि व्यवस्थापक और प्रथम धर्मनायक रहे हैं। जब तीसरे आरे के चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष, साढ़े आठ मास अवशेष रहे और अन्तिम कुलकर महाराज नाभि कुलों की व्यवस्था करने में अपने आपको असमर्थ पाने लगे तब ऋषभ का जीव सर्वार्थसिद्ध देवलोक से च्यवकर नाभि कुलकर की जीवनसंगिनी मरुदेवा की पवित्र कुक्षि में अवतरित हुआ। उसी रात्रि में माता ने चौदह महास्वप्न देखे। वे इस प्रकार हैं – १. वृषभ २. हाथी ३. सिंह ४. लक्ष्मी ५. पुष्पमाला ६. चन्द्र ७. सूर्य ८. ध्वज ९. कुंभ १०. पद्म सरोवर ११. क्षीरसमुद्र १२. देवविमान १३. रत्नराशि १४. निर्धूम अग्नि। दिगम्बर परम्परा के अनुसार सोलह स्वप्न देखे। कुलकर नाभि ने स्वप्न-फलों का विश्लेषण करते हुए कहा-तुम्हारे गर्भ में जो सन्तान है, वह कोई असाधारण महापुरुष होगा, जिससे सारा विश्व आलोकित हो उठेगा।

३.३ ऋषभ का जन्म (The birth of Rishabha)

गर्भकाल पूरा होने पर चैत्र कृष्णा अष्टमी की मध्य रात्रि में माता मरुदेवा ने एक पुत्र तथा एक पुत्री को युगल रूप में जन्म दिया। चौसठ इन्द्र व सहस्रों देवों ने पृथ्वी पर आकर ऋषभ के जन्म का उत्सव मनाया। इतनी बड़ी संख्या में देवों को देखकर यौगलिक भी इकट्ठे हो गये। उत्सव विधि से अपरिचित होने पर भी देखा-देखी सभी ने मिलकर जन्मोत्सव मनाया। इस प्रकार अवसर्पिणी काल में सबसे पहले ऋषभ का ही जन्मोत्सव मनाया गया, जन्मोत्सव मनाने की प्रथा यहीं से प्रारम्भ हुई। इससे पहले जन्मोत्सव मनाने की परम्परा नहीं थी।

३.४ नामकरण (Christening Ceremoney)

जन्मोत्सव के बाद नामकरण का अवसर आया। बालक का क्या नाम रखा जाये। इस सम्बंध में कुलकर नाभि ने कहा जब बालक गर्भ में आया था तब माता ने पहला स्वप्न वृषभ (बैल) का देखा था और बालक के उरुस्थल पर भी वृषभ का शुभ चिह्न है, अत: मेरी दृष्टि से बालक का नाम वृषभकुमार रखा जाये। उपस्थित सभी युगलों को यह नाम उचित लगा। सभी ने बालक को इसी नाम से पुकारा। पुत्री का नाम सुनन्दा रखा गया। बाद में संभवत: उच्चारण सरसता के कारण वृषभ से ऋषभ नाम प्रचलित हो गया। कल्पसूत्र की टीका में उनके अन्य पांच गुण निष्पन्न नाम भी उपलब्ध होते हैं, यथा – वृषभ, प्रथम राजा, प्रथम भिक्षाचर, प्रथम जिन, प्रथम तीर्थंकर।

३.५ वंश (Dynasty)

यौगलिक युग में मानव समाज किसी कुल, जाति या वंश के विभाग से विभक्त नहीं था अत: ऋषभ का भी कोई वंश (जाति) नहीं था। जब ऋषभ एक वर्ष के हो गये तो एक दिन वे अपने पिता की गोद मे बैठे थे। बाल-क्रीड़ा कर रहे थे। तभी इन्द्र एक थाल में विविध खाद्य वस्तुएँ सजाकर लाए। उन ढ़ेर सारी वस्तुओं को देखकर नाभि ने अपने पुत्र से कहा – जो कुछ खाना हो उसे हाथ से उठाओ। ऋषभ ने सर्वप्रथम इक्षु (गन्ने) का टुकड़ा उठाकर चूसने का यत्न किया। बालक ऋषभ के इस प्रयत्न को ध्यान में रखकर इन्द्र ने कहा – बालक को इक्षु प्रिय है। अत: आगे इस वंश का नाम इक्ष्वाकुवंश होगा। इक्ष्वाकुवंश की स्थापना के साथ ही वंश परम्परा का प्रारम्भ हुआ।

३.६ विवाह (Marriage)

यौगलिक युग में विवाह पद्धति का प्रचलन नहीं था। जो भाई-बहिन के रूप में युगल पैदा होता, वे ही पति-पत्नी के रूप में सम्बन्ध स्थापित करते। बहु-पत्नी प्रथा का प्रचलन नहीं था। सर्वप्रथम ऋषभ का विवाह दो कन्याओं के साथ किया गया। दो कन्याओं में एक उसके साथ जन्मी हुई सुनन्दा थी। दूसरी अनाथ कन्या सुमंगला थी। अब तक अकाल मृत्यु नहीं होती थी पर अब धीरे-धीरे काल का प्रभाव हुआ, एक दुर्घटना घटी। एक जोड़ा था, उसमें पुत्र मर गया, पुत्री बच गई। थोड़े समय बाद उसके माता-पिता मर गये। नाभि ने उस कन्या सुमंगला को ऋषभ की पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया। यहीं से विवाह-पद्धति का प्रारम्भ हुआ। इसके बाद लोग अपनी सहोदरी के अतिरिक्त दूसरी कन्याओं से भी विवाह करने लगे।

३.७ संतान (Offsprings)

यौगलिक युग में हर युगल के जीवन में एक बार ही संतानोत्पत्ति होती थी और वह भी युगल के रूप में। ऋषभ के समय से कई परिस्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। अब तक विशुद्ध यौगलिक युग था। हर युगल एक युगल को जन्म देता था। अब यह परम्परा भी टूट गई। उनके सौ पुत्र और दो पुत्रियां हुई। सुनन्दा के तो एक ही युगल पैदा हुआ – बाहुबली और सुन्दरी। सुमंगला के पचास युगल जन्मे। जिनमें प्रथम युगल में भरत और ब्राह्मी का जन्म हुआ, शेष उनपचास युगलों में पुत्र ही पुत्र पैदा हुए। इसके बाद अन्य युगल दम्पतियों के भी अनेक पुत्र और पुत्रियां होने लगे। तभी से जनसंख्या भी तेजी से बढ़ने लगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

३.८ राज्याभिषेक (Coronation)

अन्तिम कुलकर नाभि के समय में अपराध-निरोध के लिए निर्धारित की गई धिक्कार-नीति का उल्लंघन होने लगा। दिन-प्रतिदिन यौगलिकों की समस्याएँ बढ़ने लगीं। नाभि के पास इनका कोई समुचित समाधान नहीं था। अपराध का कारण पूछने पर जबाब मिलता-भूखा था, अत: अपराध हो गया। आप पेट भरने का प्रबन्ध कर दीजिए फिर ऐसी गलती नहीं होगी। पेट भरने का उपाय नाभि के पास भी नहीं था। अब केवल दण्ड व्यवस्था से काम नहीं चल पा रहा था।

एक दिन कुछ यौगलिक ऋषभ के पास अपनी समस्याओं के सम्बंध में चर्चा कर रहे थे। ऋषभ ने कहा-ऐसे समस्या का समाधान नहीं होगा। समय के साथ व्यवस्था बदलनी होगी। अब कुलकर व्यवस्था से काम नहीं चलेगा। अब तो विधिवत् एक राजा होना चाहिए। उसके अनुशासन से ही समस्या सुलझ सकती है। यह सुनकर युगलियों ने कहा – आप ही हमारे राजा बन जाइये। ऋषभ ने कहा-आप जाओ और कुलकर नाभि से राजा की याचना करो, वे तुम्हे राजा देंगे। यौगलिकों ने नाभि के पास जाकर निवेदन किया। नाभि ने कहा – मैं तो अब वृद्ध हो चुका हूँ। अत: आज से तुम सब ऋषभ को अपना राजा मानो। अब वे ही तुम्हारी समस्याओं का समाधान देंगे।

नाभि की आज्ञा प्राप्त कर सभी युगलियों ने मिलकर अपनी कल्पना से ऋषभ का राज्याभिषेक किया। कई तरह के फूलों से ऋषभ के शरीर को अलंकृत किया। ऊँचे आसन पर बिठाकर चरणों में जलाभिषेक किया और उन्हें अपना राजा स्वीकार किया।

३.९ शासन-व्यवस्था का विकास (Development of Governance)

राज्याभिषेक के पश्चात् ऋषभदेव ने राज्य की सुव्यवस्था और विकास के लिए सर्वप्रथम आरक्षक दल की स्थापना की। उसके अधिकारी **'उग्र'** नाम से जाने गये। फिर राजकीय व्यवस्था में परामर्श के लिए एक मंत्रिमंडल का निर्माण किया गया। जिसके अधिकारी को **'भोग'** नाम से संबोधित किया गया। इसके अतिरिक्त एक परामर्श मंडल की भी स्थापना की गई जो सम्राट के निकट रहकर समय-समय पर उन्हें परामर्श देता रहे। परामर्श मंडल के सदस्यों को **'राजन्य'** और सामान्य कर्मचारियों को **'क्षत्रिय'** नाम से संबोधित किया जाने लगा।

विरोधी तत्त्वों से राज्य की रक्षा करने तथा दुष्टों, अपराधियों को दण्डित करने के लिए उन्होंने चार प्रकार की सेना और सेनापतियों की व्यवस्था की। अपराधी की खोज एवं अपराध निरोध के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद नीति तथा निम्नलिखित चार प्रकार की दण्ड व्यवस्था भी की।

१. **परिभाषक** – थोड़े समय के लिए नजरबन्द करना – अपराधी को कुछ समय के लिए आक्रोश पूर्ण शब्दों में दण्डित करना। क्रोधपूर्ण शब्दों में अपराधी को 'यहीं बैठ जाओ' का आदेश देना।

२. **मण्डलिबन्ध** – नजरबन्द करना – नियमित क्षेत्र से बाहर न जाने देने का आदेश देना।

३. **बन्ध** – बंधन का प्रयोग – बन्दीगृह जैसे किसी एक स्थान में अपराधी को बन्द करके रखना।

४. **घात** – डंडे का प्रयोग – अपराधी के हाथ-पैर आदि शरीर के किसी अंग-उपांग का छेदन करना।

३.१० धर्मानुकूल लोक-व्यवस्था (Religion and morality oriented organization of the public affairs)

राष्ट्र-सुरक्षा की उत्तम व्यवस्था करने के पश्चात् ऋषभदेव ने लोक जीवन को स्वावलम्बी बनाना आवश्यक समझा। राष्ट्रवासी अपना जीवन स्वयं सरलता से बिता सकें ऐसी शिक्षा देने के विचार से उन्होंने असि, मसि और कृषिकर्म का प्रजा को उपदेश दिया।

३.१०.१ असिकर्म शिक्षा (Training in War Fare)

ऋषभ ने एक ऐसा वर्ग तैयार किया जो लोगों की सुरक्षा का दायित्व संभ लने में सक्षम हो। उसे तलवार, भाला, बरछी आदि शस्त्र चलाने सिखाए। साथ में कब, किस पर इन शस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए, इसका भी निर्देश दिया। वे लोग देश की सुरक्षा के लिए सदा तत्पर रहते थे। इस वर्ग को 'क्षत्रिय' नाम से पुकारा गया।

३.१०.२ मसिकर्म शिक्षा (Training in Accountancy)

मसि कर्म का तात्पर्य लिखा-पढ़ी से है। ऋषभ ने एक ऐसा वर्ग तैयार किया जो उत्पादन की गई वस्तुओं का विनिमय कर सकें। एक-दूसरे तक पहुंचा सकें। प्रारम्भ में मुद्रा नहीं थी। वस्तु से वस्तु का विनिमय होता था। उनका हिसाब रखना जरूरी था। कौनसी वस्तु का विनिमय किस मात्रा में होता है, जानना जरूरी था। इसके लिए कुछ लोगों को प्रशिक्षित किया गया। इस विनिमय प्रक्रिया को व्यापार तथा इसे करने वाले वर्ग को व्यापारी (वैश्य) कहकर पुकारा गया।

३.१०.३ कृषिकर्म शिक्षा (Training in Agriculture)

राजा बनते ही ऋषभ के पास सबसे पहला काम था – खाद्य समस्या का समाधान करना। इसके लिए उसने सबको एकत्रित किया और कहा – अब कल्पवृक्षों की क्षमता कम होने लगी है। समय के साथ उन्होंने फल देने बंद कर दिये हैं। अत: ऐसी स्थिति में श्रम करना होगा। खेतों में अनाज बोना होगा। ऋषभ के इस आह्वान पर हजारों नवयुवक खड़े होकर श्रम करने के लिए संकल्पबद्ध हो गए। ऋषभ ने उन्हें कृषि-खेती कैसे करनी चाहिए इसका प्रशिक्षण दिया। कृषि के साथ अन्य सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के उपाय भी सिखाये।

३.११ कला-प्रशिक्षण (Training in Art)

ऋषभदेव ने लिपि और अंकविद्या का आविष्कार किया। बड़ी पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियों का ज्ञान करवाया और छोटी पुत्री सुन्दरी को अंकविद्या अर्थात् गणित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का अध्ययन करवाया। इस प्रकार उन्होंने अपनी पुत्रियों के माध्यम से सर्वप्रथम वाङ्मय का उपदेश दिया। इन विद्याओं का सर्वप्रथम शिक्षण ब्राह्मी और सुन्दरी के रूप में नारी जाति को प्राप्त हुआ। ब्राह्मी ने जिस लिपि का अध्ययन किया वह ब्राह्मी लिपि के नाम से जानी जाने लगी। आज भी विश्व में ब्राह्मी लिपि प्राचीनतम मानी जाती है।

पुत्रियों के समान पुत्रों को भी अनेक कलाओं का ज्ञान दिया। अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को ७२ कलाएँ सिखलाई। कनिष्ठ पुत्र बाहुबलि को प्राणी की लक्षण-विद्या का उपदेश दिया। इसके अतिरिक्त धनुर्वेद, अर्थशास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, क्रीड़ा-विधि आदि विद्याओं का प्रवर्तन कर लोगों को सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत बनाया।

इस प्रकार पुत्र-पुत्रियों को अनेक कलाओं और विद्याओं की शिक्षा देकर ऋषभदेव ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया और यौगलिक युग जो कि भोगयुग था उसे कर्मयुग में लाने के लिए बहुत श्रम और पुरुषार्थ किया।

३.१२ वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ (Introduction of the Caste-System)

भगवान ऋषभ से पूर्व भारतवर्ष में कोई वर्ण या जाति की व्यवस्था नहीं थी। भारतीय ग्रन्थों में उपलब्ध चार वर्णों में से तीन वर्णों की उत्पत्ति ऋषभ के समय हुई। जो लोग शारीरिक दृष्टि से शक्ति सम्पन्न थे उन्हें प्रजा की रक्षा के कार्य मे नियुक्त किया गया और उन्हें पहचान के लिए 'क्षत्रिय' संज्ञा दी गई। जो लोग कृषि, पशुपालन एवं वस्तुओं के क्रय-विक्रय-वितरण आदि का कार्य करते, उन लोगों के वर्ग को 'वैश्य' की संज्ञा दी गई। कृषि और मसि कर्म के अतिरिक्त अन्य कार्य करने वाले लोगों को शूद्र संज्ञा दी गई। उनके जिम्मे सेवा तथा सफाई का कार्य था।

ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति सम्राट भरत के शासनकाल में हुई। सम्राट भरत ने धर्म के सतत जागरण के लिए कुछ बुद्धिजीवी व्यक्तियों को चुना जो वक्तृत्व कला में निपुण थे। ब्रह्मचारी रहकर समय-समय पर राज्य-सभा में तथा अन्य स्थानों में जाकर प्रवचन देना, धार्मिक प्रेरणा देना उनका काम था। ब्रह्मचर्य का पालन करने से या ब्रह्म (आत्मा) की चर्चा में लीन रहने के कारण इन्हें ब्राह्मण कहा जाता था। इनकी संख्या सीमित थी और भरत द्वारा निर्धारित थी।

इस प्रकार चारों वर्ण की उत्पत्ति ऋषभ और सम्राट भरत के समय में हो गई थी, किन्तु हीनता और उच्चता की भावना उस समय बिल्कुल नहीं थी। सभी अपने-अपने कार्य से संतुष्ट थे। वर्ण के नाम पर हीन-उच्च या स्पृश्य-अस्पृश्य आदि के भाव नहीं थे।

३.१३ ग्राम-व्यवस्था (Organization of Villages)

ऋषभ ने सामूहिक जीवन का सूत्रपात करते हुए सबसे पहले ग्राम व्यवस्था की रूपरेखा लोगों को समझाई। उन्होंने बताया अब समय बदल चुका है अत: रहन-सहन में परिवर्तन करना होगा। घर बनाकर रहना होगा। घर की उपयोगिता समझाने के साथ-साथ सामूहिक जीवन की उपयोगिता समझाई। बात लोगों के समझ में आ गई। वे युगल जंगलों को छोड़कर गांवों में बस गये। सर्वप्रथम जो बस्ती बनी उसका नाम विनीता रखा गया। ऋषभ ने अपना निवास स्थान वहीं बनाया। भारत की प्रथम राजधानी होने का गौरव भी उसे प्राप्त हुआ। उसे ही आगे चलकर अयोध्या के नाम से पुकारा जाने लगा।

३.१४ सामाजिक परम्पराओं का सूत्रपात (Commencement of Social Traditions)

ऋषभदेव ने व्यावहारिक एवं धार्मिक शिक्षाएँ देकर समयानुसार परिवर्तन किया और अनेक सामाजिक परम्पराओं का सूत्रपात किया। यथा –

१. पहले कोई राजा नहीं होता था, किन्तु ऋषभ ने राजा-प्रजा का व्यवहार चलाया।

२. पहले एक पुरुष के एक ही स्त्री होती थी और वह जीवन भर में एक ही युगल उत्पन्न करती थी, किन्तु ऋषभ के सुनन्दा और सुमंगला दो रानियां हुई, उन्होंने सौ पुत्र और दो पुत्रियों को जन्म दिया। ज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था, जो इस भरत क्षेत्र में पहले चक्रवर्ती हुए।

३. पहले भोजन बनाने की प्रथा नहीं थी, क्योंकि कल्पवृक्षों के द्वारा सब कुछ मिल जाता था परन्तु उन वृक्षों की शक्ति में कमी आ जाने के कारण ऋषभ ने असि-मसि-कृषि का प्रवर्तन किया।

४. पहले कोई पढ़ना-लिखना नहीं जानता था। ऋषभ ने अपने पुत्रों को ७२ कलाएँ तथा पुत्रियों को ६४ कलाएँ सिखाई।

५. पहले मृतकों की दाहक्रिया नहीं की जाती थी, अब लोग मृतकों को जलाने लगे।

६. पहले पारिवारिक ममत्व नहीं था, अब वह विकसित हो गया, इसलिए मृत्यु के बाद लोग रोने भी लगे।

७. पहले मृत्यु के बाद स्मृति में वेदी और स्तूप बनाने की प्रथा नहीं थी, अब वह प्रथा भी चल पड़ी।

८. नाग-पूजा और अन्य कई उत्सव भी मनाये जाने लगे।

इस प्रकार ऋषभ के समय से समाज में कुछ परम्पराओं ने जन्म ले लिया।

३.१५ पुत्रों को राज्य-विभाजन एवं अभिनिष्क्रमण (Division of empire among the sons and renunciation)

भगवान ऋषभ का जीवन चौरासी लाख पूर्व का था। उसमें तिरासी लाख पूर्व का समय उन्होंने सामाजिक और राजनैतिक मूल्यों की स्थापना में बिताया। कर्त्तव्य बुद्धि से लोक-व्यवस्था का प्रवर्तन कर लम्बे समय तक वे राजा रहे। ऋषभ ने अब धर्म-नीति का प्रवर्तन करने का निश्चय किया। उस समय पाँचवे देव-लोक के नौ लोकान्तिक देव ऋषभ के पास में पहुँचे और वंदन कर निवेदन किया – भगवन्! लोक व्यवहार की संपूर्ण व्यवस्था आपने कर ली है, अब आप धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भगवान ने दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक किया और उन्हें अयोध्या का राज्य प्रदान किया। निन्यानवें पुत्रों को अन्य क्षेत्रों की सार-संभाल का दायित्व सौंपा। सब प्रकार से पूर्णत: निवृत्त हो वे वर्षीदान देने लगे। वर्षीदान से सब लोगों को पता लग गया कि अब ऋषभ घर छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं। अनेक व्यक्ति उनका अनुगमन करने के लिए तैयार हो गए। चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन ऋषभ ने चार हजार व्यक्तियों के साथ अभिनिष्क्रमण किया। अभिनिष्क्रमण देखने हेतु दूर-दूर से लोग पहुँच रहे थे। चौसठ इन्द्रों के साथ हजारों देव भी उत्सव में सम्मिलित हुए। शहर से बाहर उपवन में पहुँचकर ऋषभ ने अपने वस्त्र और आभूषण उतार दिये।

अब ऋषभ ने केश लुंचन प्रारम्भ किया, पहले आगे के केशों का लुंचन किया फिर दायें-बायें भाग के केशों का लुंचन किया एवं उसके बाद पीछे के केशों का लुंचन किया। अन्त में मध्य भाग में रहे केशों का लुंचन प्रारम्भ किया तो इन्द्र ने प्रार्थना की – प्रभो! इन्हें रहने दीजिये, बहुत सुन्दर लगते हैं। इन्द्र की प्रार्थना पर भगवान ने उन केशों को वैसे ही छोड़ दिया। भगवान का अनुकरण अन्य लोगों ने भी किया और शायद चोटी की परम्परा वहीं से चल पड़ी। कुछ आचार्य ऋषभ का पंचमुष्टि लुंचन भी मानते हैं।

३.१६ साम्राज्य-लिप्सा (Lust for Empire)

भगवान ऋषभ कर्मयुग के पहले राजा थे। अपने सौ पुत्रों को अलग-अलग राज्यों का भार सौंप वे मुनि बन गये। सबसे बड़ा पुत्र भरत था। वह चक्रवर्ती सम्राट बनना चाहता था। उसने अपने अट्ठानवें भाइयों को अपने अधीन करना चाहा। सबके पास दूत भेजे। सभी भाई मिले। आपस में परामर्श कर भगवान ऋषभ के पास पहुँचे। सारी स्थिति भगवान के सामने रखी – भगवन्! क्या करें? बड़े भाई से लड़ना नहीं चाहते और अपनी स्वतन्त्रता को खोना भी नहीं चाहते। यदि हम उससे लड़ते हैं तो भ्रातृ-युद्ध की गलत परम्परा पड़ जायेगी और यदि बिना लड़े राज्य सौंप देते हैं तो साम्राज्य का रोग बढ़ जायेगा। परम पिता! अब आप ही इस दुविधा से उबारिये।

भगवान ने देखा – समस्या बड़ी विकट है। उन्होंने कहा – पुत्रों! तुमने ठीक सोचा। लड़ना भी बुरा है और क्लीव होना भी बुरा है। युद्ध बुरा है, विजेता के लिए भी और पराजित के लिए भी। पराजित अपनी सत्ता को खोकर पछताता है और विजेता कुछ नहीं पाकर पछताता है। प्रतिशोध की चिता जलाने वाला उसमें स्वयं न जले, यह कभी नहीं होता। कायर बनना भी बुरा है। मैं तुम्हें कायर बनने की सलाह भी नहीं देता। पुत्रों! मैं तुम्हें अब ऐसा राज्य देना चाहता हूँ, जिसके साथ लड़ाई और कायरता की कड़ियाँ जुड़ी हुई नहीं हैं। मैं तुम्हें ऐसा राज्य देना चाहता हूँ, जिसकी कोई सीमा नहीं है। वह असीम और अनन्त है। क्या तुम उसे लेना चाहोगे?

भगवान की आश्वासन भरी वाणी सुन वे सारे खुशी से झूम उठे और बोले – आप देना चाहते हैं तो हम लेने को तैयार हैं। भगवान की भावना को वे नहीं पकड़ सके। भौतिक जगत् की सत्ता और अधिकारों से परे भी कोई राज्य हो सकता है, यह उनकी कल्पना में भी नहीं था। भगवान ने कहा – संयम का क्षेत्र निर्बाध राज्य है, इसे स्वीकार करो। इसे स्वीकार करने के बाद न कोई तुम्हें अपने अधीन कर पायेगा और न ही युद्ध और कायरता का प्रसंग आयेगा। पुत्रों ने देखा, पिता उन्हें राज्य त्यागने की सलाह दे रहे हैं। पूर्व-कल्पना पर पटाक्षेप हो गया। उन्होंने भगवान के मार्गदर्शन का सम्मान किया। अट्ठानवें भाई भगवान के चरणों के अधीन बन गए, मुनि बन गए। भरत को जब ज्ञात हुआ तो उसका दिल पसीज गया। वह दौड़ा-दौड़ा आया और अपनी भूल पर पश्चाताप करने लगा। भाईयों से क्षमा मांगी। स्वतंत्रतापूर्वक अपना-अपना राज्य संभालने का आग्रह किया, पर भरत का भ्रातृ-प्रेम अब उन्हें नहीं लुभा सका। भाई की गीली आंखों का उन पर कोई असर नहीं हुआ। भरत वापस घर लौट गया।

साम्राज्यवाद एक मानसिक प्यास है। वह उभरने के बाद सहसा नहीं बुझती। भरत ने एक-एक कर सभी राज्यों को अपने अधीन कर लिया। अब वह बाहुबलि को अपने अधीन करना चाहता था। अपने एक दूत को भरत ने बाहुबलि के पास भेजा। दूत के मुंह से भरत का संदेश सुन बाहुबलि की भृकुटि तन गई। काँपते होठों से कहा –दूत! भरत अब भी भूखा है। अपने अट्ठानवें भाइयों का राज्य हड़पकर भी तृप्त नहीं हुआ है। मैं युद्ध करना नहीं चाहता। आक्रमण को अभिशाप मानता हूँ। किन्तु आक्रमणकारी को सहूँ, यह मेरी सहनशक्ति से परे है। सहन करने की भी एक सीमा होती है, मैंने उसे निभाया है पर तोड़ने वाला यदि समझता ही नहीं तो आखिर जोड़ने वाला कब तक जोडे। उसे अपनी शक्ति का गर्व है। वह सबको दबाकर रखना चाहता है, यह शक्ति का सदुपयोग नहीं, दुरुपयोग है। भगवान द्वारा स्थापित व्यवस्था का अतिक्रमण है। ऐसी स्थिति में मैं चुप्पी नहीं साध सकता, मैं उसे बतलाना चाहता हूँ कि आक्रमण करना कितना बुरा है। बाहुबलि की बात सुनकर दूत लौट आया। उसने भरत के पास आकर सारी बात कह सुनाई। भरत भी चुप बैठने वाले कब थे। विशाल सेना के साथ युद्ध करने हेतु 'बहली देश' की सीमा पर पहुँच गये। दूसरी ओर बाहुबलि भी अपनी सेना के साथ मैदान में आ पहुँचे। थोड़ी देर तक सैनिकों में परस्पर युद्ध होता रहा, फिर दोनों भाइयों के बीच युद्ध हुआ। चार प्रकार के युद्ध की घोषणा की गई – दृष्टि-युद्ध, शब्द-युद्ध, मुष्टि-युद्ध और दंड-युद्ध।

३.१६.१ दृष्टि-युद्ध (War with Eyes)

भरत और बाहुबलि के बीच पहला युद्ध दृष्टि-युद्ध प्रारम्भ हुआ। इस युद्ध में यह निश्चित था कि जो पलकों को पहले झपकायेगा वह हार जायेगा और जो पलकों को नहीं झपकायेगा, वह जीत जायेगा। दोनों अपलक दृष्टि से एक-दूसरे को देखते रहे। घंटे बीत गये, प्रहर बीत गये। किसी की पलकें नहीं झपकीं। कुछ प्रहर बीतने के बाद भरत की पलकें झपक गई। निर्णायक ने भरत के पराजित होने की और बाहुबली के विजयी होने की घोषणा की।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

३.१६.२ शब्द-युद्ध (War with Words)

दोनों के बीच शब्द-युद्ध प्रारम्भ हुआ। भरत ने भयंकर सिंहनाद किया। आकाश-पाताल एक हो गए। समुद्र में ज्वारभाटा आ गया। लोग भयभीत हो उठे। जब बाहुबलि ने सिंहनाद किया तो उसके सामने भरत का स्वर दब गया, मंद हो गया। भरत इस बार भी पराजित घोषित हुए।

३.१६.३ मुष्टि-युद्ध (War with Fist)

दोनों के बीच मुष्टियुद्ध प्रारम्भ हुआ। पहले भरत ने बाहुबलि की छाती में मुक्का मारा। बाहुबलि चीख उठे, किंतु तत्काल संभल गये। अब बाहुबलि ने भरत पर प्रहार किया पर भरत बाहुबलि के प्रहार को सहन नहीं कर सके। भूमि पर गिर पड़े, मूर्च्छित हो गए। भरत पुन: पराजित हो गये।

३.१६.४ दंड-युद्ध (War with a Staff)

युद्ध का चौथा विकल्प था दंड-युद्ध। भरत ने पहले दंड से बाहुबलि पर प्रहार किया। बाहुबलि घुटने तक जमीन में धंस गए। वे अपनी शक्ति के प्रयोग से बाहर निकले। अब बाहुबलि ने भरत पर दंड का प्रहार किया तो वे कंठ तक भूमि में धंस गये। मुकुट गिर गया। भरत को चारों युद्धों में पराजित घोषित कर दिया गया।

भरत अपनी पराजय से आकुल-व्याकुल हो गए। भावावेश में सुदर्शन चक्र को हाथ में लिया और बाहुबलि के शिरच्छेद के लिए फेंक दिया। वह आग की लपटें उगलता चला जा रहा था। उसे देख सब घबरा रहे थे, सोचा आज बाहुबलि का काम तमाम हो जायेगा। बाहुबलि अडोल और अकंप खड़े थे। चक्र बाहुबलि के पास पहुँचा। उसने मारने के बजाय बाहुबलि की प्रदक्षिणा शुरु कर दी। भरत घबरा उठा – चक्र बाहुबलि के पास चला गया, अब क्या होगा ? किन्तु थोड़ी देर में चक्र बाहुबलि की प्रदक्षिणा कर भरत के पास वापस आ गया।

भरत के इस कृत्य को देखकर बाहुबलि आक्रोश में आ गये और मुक्का तानकर भाई पर प्रहार करने के लिए सन्नद्ध हो उठे। तभी आकाश से ध्वनि हुई – हे बाहुबलि ! आपका बल युद्ध के लिए प्रयुक्त हो रहा है, क्या यह भविष्य के लिए शुभ होगा ? यदि आप भी अपने बड़े भाई भरत को मारना चाहते हो तो इस संसार में बड़े भाई की आज्ञा मानने वाला दूसरा कौन होगा ?

आप क्रोध न करें। आप शक्तिशाली हैं। अपने भाई की तरफ ध्यान न दें। अपने पिता की ओर देखें। अपने भाई के मार्ग का अनुसरण न करें, पिता के मार्ग का अनुसरण करें। आप अपनी इस मुट्ठी को खोलें, कल्याण के मार्ग पर प्रस्थान करें।

बाहुबलि ने सोचा – बात सही है। भाई पर मुक्का उठाना अच्छा नहीं। किन्तु जो मुक्का उठ गया, वह नीचे नहीं जा सकता। मैं क्या करूँ ? समाधान मिला और उस उठी मुट्ठी से स्वयं के केश का लुंचन कर लिया। एक साथ लाखों कण्ठों से एक ही स्वर गूँजा – महान् पिता के पुत्र भी महान् होते हैं। बाहुबलि पिता के पथ की ओर चल पड़े। वे पिता की शरण में चले गए। उनके मार्ग पर चल पड़े, पर उनके पास नहीं गए। अहंकार मन में अब भी शेष था। पूर्व दीक्षित छोटे भाई जो कि अब उससे संयम पर्याय में बड़े हो चुके थे, उन्हें वंदन नमस्कार करना होगा, यह बात मन में आते ही उनके पैर रुक गये। वे एक वर्ष तक ध्यान-मुद्रा में खड़े रहे। उनका त्याग और क्षमा उन्हें आत्म-दर्शन की ओर ले गया किन्तु अहंकार ने उन्हें पीछे धकेल दिया। बहुत लम्बी ध्यान-मुद्रा के बाद भी वे आगे नहीं बढ़ सके।

बहिन ब्राह्मी और सुन्दरी उन्हें प्रतिबोध देने आई। देखा, बाहुबलि कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े हैं। **'वीरा म्हारा गज थकी उतरो'** – ये शब्द बाहुबलि के कानों को बींधकर हृदय को पार कर गए। बाहुबलि ने आंखें खोली। बहिनें बोलीं – भाई ये पैर रुक क्यों गये ? अब अहंकार रूपी हाथी से नीचे उतरो। भाई को प्रतिबोध मिला। वे भाई मुझसे छोटे नहीं हैं, उनका चरित्र विशाल है। मेरे अहं ने मुझे और छोटा बना दिया। अब मुझे अविलम्ब भगवान के पास चलना चाहिए।

पैर उठे कि बन्धन टूट पड़े। वे केवलज्ञानी बन गए। सत्य का साक्षात ही नहीं हुआ, वे स्वयं सत्य बन गए। शिव अब उनका आराध्य नहीं रहा, वे स्वयं शिव बन गए। आनन्द अब उनके लिए प्राप्य नहीं रहा, वे स्वयं आनन्द बन गए।

३.१७ भरत का अनासक्त योग (Bharat's Yoga of Detachment)

भरत चक्रवर्ती था। भारतवर्ष का एकछत्र सार्वभौम राज्य पाकर भी भरत के मन में शान्ति नहीं थी। ९९वें भाइयों को खोकर, राज्यभोगों में उन्हें गौरवानुभूति नहीं हो रही थी। उनके मन में राज्य के लिए, भाइयों को अपमानित करने का खेद था। अत: राष्ट्र का अखण्ड शासन करते हुए भी उसके मन में आसक्ति नहीं थी। वे उदासीन भाव से राज्य का संचालन कर रहे थे।

३.१७.१ भगवान का प्रवचन और स्वर्णकार का आरोप (Sermon of the Lord and the Accusation of a Goldsmith)

एक दिन भगवान ऋषभदेव अपनी शिष्य मण्डली के साथ विनीता नगरी के उद्यान में विराजित थे। सहस्रों नर-नारी उनके प्रवचन का श्रवण कर रहे थे। ऋषभ ने अल्प-परिग्रह और महापरिग्रह का भेद बताया और कहा – महापरिग्रह नरक का हेतु है। उस समवसरण में चक्रवर्ती सम्राट भरत भी था और विनीता नगरी का एक स्वर्णकार भी था। स्वर्णकार निर्धन था। वह अपने आपको अल्प-परिग्रही और भरत को महापरिग्रही मानता था। उसने भगवान से जिज्ञासा की कि इस संसार चक्र से पहले मैं मुक्त बनूंगा या भरत। भगवान सर्वज्ञ थे। उन्होंने कहा – भरत अल्पपरिग्रही तथा अल्पारंभी है, अत: पहले वही मुक्त होगा। स्वर्णकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ने यह सुना तो वह बोल उठा – अहो ! भगवान के मन में भी पुत्र के प्रति पक्षपात है। भरत पूरे भूमण्डल का शासक है, अपार धन-दौलत है। विशाल परिवार है, बहुत बड़ी सेना है फिर भी भगवान ने उसे अल्प-परिग्रही और अल्पारंभी कहा है। यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

भगवान की धर्मदेशना समाप्त हुई। सब अपने-अपने घर चले गये। स्वर्णकार के मन में बात घर कर गई। जो भी मिलता, वह उससे कहता कि अभी भगवान ऋषभ भी पक्षपात से छूट नहीं पाये हैं। इसलिए भरत जैसे महापरिग्रही, महारम्भी को अल्पपरिग्रही और अल्पारम्भी बता रहे हैं। उन्हें इसी जन्म में मोक्ष का अधिकारी बता रहे हैं।

३.१७.२ भरत द्वारा आरोप का परिष्कार (Rectification of the charge by Bharat)

सम्राट भरत को अपने गुप्तचरों द्वारा यह ज्ञात हुआ। उसे इस बात का दुःख नहीं हुआ कि स्वर्णकार ने उसे महापरिग्रही कहा है किन्तु वीतराग भगवान पर लगाया गया पक्षपात का मिथ्या आरोप उसे अच्छा नहीं लगा। उसने स्वर्णकार को राज्यसभा में बुलाया। उसे संबोधित कर सम्राट बोला – जानते हो भगवान पर असत्य दोषारोपण का क्या दण्ड होता है ? स्वर्णकार भय से थर-थर काँपने लगा। क्षमायाचना करने लगा। भरत ने कहा – अपराध का दण्ड तो तुम्हें भोगना ही पड़ेगा और उसे फांसी की सजा सुना दी। स्वर्णकार भरत के पैरों में गिर पड़ा, अपराध के लिए क्षमा माँगी। भरत ने तेल से किनारे तक भरा कटोरा मंगवाया और कहा – इसे हथेली पर रखकर विनीता नगरी के सभी राजमार्गों, चौराहों, बाजारों, मुहल्लों में घूमकर वापस राजसभा में आओ, पर ध्यान रखना एक बूँद तेल भी कटोरे से बाहर न निकले। यदि एक भी बूँद कटोरे से छलक गई तो ये शस्त्र सज्जित सैनिक जो तुम्हारे साथ चलेंगे, तत्काल मौत के घाट उतार देंगे। अन्य कोई उपाय न देखकर स्वर्णकार ने कटोरा हथेली पर रखा और विनीता नगरी में घूमने को निकल पड़ा। शस्त्र-सज्जित सैनिक भी साथ-साथ चल रहे थे। पूरी विनीता नगरी का भ्रमण कर बिना तेल की एक बूँद भी गिराये बिना वह राजसभा में पहुँचा। भरत बोला – नगर में घूम आये ?

स्वर्णकार – जी महाराज !

भरत – बोलो, नगरी में तुमने क्या-क्या देखा ?

स्वर्णकार – मैं कुछ भी नहीं देख पाया।

भरत – यह तुम कैसे कहते हो ? नगरी में अनेक उत्सव हो रहे थे, नाच-गाने के बड़े-बड़े आयोजन थे, क्या कुछ भी नहीं देखा ?

स्वर्णकार – सम्राट ! मुझे तेल के कटोरे में अपनी मौत के अतिरिक्त और कुछ भी नजर नहीं आ रहा था।

भरत – तेल में तुम्हें अपना प्रतिबिम्ब तो दिखाई दे रहा होगा।

स्वर्णकार – नहीं महाराज ! मुझे तो मौत के सिवाय कुछ भी नजर नहीं आ रहा था।

भरत – स्वर्णकार ! नेत्रों का कार्य सुन्दर दृश्यों को देखना है, बताओ तुम्हारे नेत्रों ने वह कार्य बन्द कैसे कर दिया ?

स्वर्णकार – महाराज ! न केवल नेत्रों की अपितु मेरी सारी इन्द्रियों की शक्ति अवरुद्ध हो गई। मौत के डर ने मेरे सभी अंगों को निष्क्रिय बना दिया। मुझे न कुछ दिखाई दिया और न कुछ सुनाई दिया।

भरत – मौत का इतना डर ?

स्वर्णकार – सम्राट ! इसे आप क्या जानें। मृत्यु-दण्ड पाने वाला ही इसे समझ सकता है।

भरत – स्वर्णकार ! विचार करो, एक जन्म की मौत का जब तुम्हें इतना भय लगा तो जन्म-जन्मान्तर में होने वाली मौत का कितना भय होगा ?

क्या सम्राट अमर रहेगा ? कभी नहीं। मृत्यु के मुख से कोई नहीं बच सकता। मैं अनेक जन्मों की मृत्यु के भय का अनुभव करता हूँ। तुम एक जीवन की मौत से डर गये। न तुमने नाटक देखे और न गीत सुने। मैं मौत की लम्बी परम्परा से परिचित हूँ। अपनी इस आन्तरिक अनुभूति के कारण अपने इस विशाल राज्य, विपुल वैभव, अपार संपत्ति तथा भरे-पूरे परिवार में भी आसक्त नहीं हूँ। मुझे हर क्षण अपनी मौत सम्मुख खड़ी दिखाई देती है अतः मेरा मन स्वकेन्द्रित है। चक्रवर्ती राजा होने के कारण मुझे व्यवहार में वह सब करना पड़ता है, जो कर्त्तव्यदृष्टि से अपेक्षित है, किन्तु मेरा मन उसमें आसक्त नहीं होता।

स्वर्णकार की आंखों पर जो अज्ञान का आवरण था, वह सहसा दूर हट गया। उसने भगवान पर जो मिथ्या दोषारोपण किया, उसके लिए उसे मन ही मन बड़ा पश्चाताप हुआ। उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। अवरुद्ध कंठों से बोला – सम्राट ! मैं सब कुछ जान गया कि विपुल परिग्रह और विशाल साम्राज्य के अधिपति होते हुए भी निःसंदेह आप अल्पपरिग्रही, अल्पारंभी हैं। आपकी तुलना में मेरे पास कुछ भी नहीं है, किन्तु जो भी मेरे पास है, मैं उसमें आसक्त हूँ, मूर्च्छित हूँ। भगवान के वचनों पर संशय कर मैंने बहुत बड़ा पाप किया है। मैं अपने दुष्कृत्य की निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

सम्राट की करुणापूर्ण आंखों ने उसे अभय बना दिया। मृत्युदण्ड उसके लिए केवल शिक्षाप्रद था। सम्राट की अमरत्व निष्ठा ने उसे मौत से सदा के लिए उबार लिया।

३.१८ श्रामण्य की ओर (Step towrds monkhood)

सम्राट भरत लम्बे समय से राज्य का संचालन करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं थे। एक दिन वस्त्रालंकारों से विभूषित होकर वे शीश-महल (आदर्शभवन) में गये। दीवारों और आंगन के शीशों में उनका सौन्दर्य शतमुखी होकर प्रतिबिम्बित हो रहा था। वे अपनी शोभा देखकर स्वयं विस्मित थे। अपनी अंगुलियों की शोभा निहारते हुए उन्होंने देखा कि एक अंगुली जिसकी अंगूठी निकाल दी गई है, उसकी शोभा घट गई है। फिर उसे पहना, शोभा बढ़ गई। उन्हें लगा कि पर-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पदार्थ से शोभा बढ़ती है, किन्तु यह सौन्दर्य कृत्रिम है। वे सहज सौन्दर्य ढूंढने लगे। उन्होंने एक-एक कर अपने सारे आभूषण उतार दिये। आभूषणों के उतारते ही शरीर का कृत्रिम सौन्दर्य नष्ट हो गया। भरत के चिन्तन ने मोड़ लिया, सोचा – शरीर का यह सौन्दर्य कृत्रिम है। चिन्तन करते-करते चिन्तन का प्रवाह शम, संवेग और निर्वेद की भूमिका पर पहुँच गया। भावना का प्रवाह आगे बढ़ा और चार घाति कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। वे प्रभु ऋषभदेव के पद-चिह्नों पर चल पड़े और अन्त में सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गये।

३.१९ ऋषभ का निर्वाण (Emancipation of Lord Rishabha)

भगवान ऋषभ ने जब दीक्षा ली तो चार हजार शिष्य साथ थे किन्तु भगवान की मौन व कठोर साधना को देख निराश हो गए। साधुत्व को छोड़ वन में चले गए। भगवान ऋषभ ने एक हजार वर्ष तक कठोर साधना की। पुरिमताल के उद्यान में वटवृक्ष के नीचे तेले की तपस्या में फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद उनका धार्मिक परिवार पुनः बढ़ने लगा। उनके परिवार में ८४ हजार श्रमण थे। उनकी व्यवस्था के लिए भगवान ने ८४ गण बनाये। प्रत्येक गण का एक-एक मुखिया स्थापित किया, जिसे गणधर कहा जाने लगा। भगवान के प्रथम गणधर ऋषभसेन थे।

एक लाख पूर्व तक संयम की आराधना करते हुए हजारों ग्राम-नगरों में धर्म का प्रचार किया। फिर अपने जीवन का अवसान निकट समझकर वे दस हजार शिष्यों के साथ अष्टापद पर्वत (कैलाश) पर चढ़े। अवसर्पिणी के तीसरे आरे के साढ़े आठ माह शेष रहने पर छह दिन की तपस्या में अयोगी अवस्था को प्राप्त किया और शेष अघाति कर्मों का क्षय कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान के निर्वाण का दिन माघ कृष्णा त्रयोदशी का था।

उनका समग्र जीवन ८४ लाख पूर्व का था। इस प्रकार भगवान ऋषभ का जीवन एक समग्र जीवन था। उन्होंने अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष – इन चारों पुरुषार्थों का प्रतिपादन किया। सामाजिक और धार्मिक – दोनों परम्पराओं का शुभारम्भ किया।

ऋषभ के पश्चात् (After Rishabha)

काल का चौथा चरण दुषम-सुषमा प्रारम्भ हुआ। वह ४२ हजार वर्ष कम एक कोटि-कोटि सागर का था। इस अवधि में कर्मक्षेत्र का पूर्ण विकास हुआ। धर्म बहुत फला-फूला। इस युग में जैन धर्म के २३ तीर्थंकर हुए। २४ तीर्थंकरों में २१ तीर्थंकरों की गणना प्रागैतिहासिक काल में मानी जाती है। कुछ विद्वान २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में स्वीकार करते हैं। २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ और २४वें तीर्थंकर महावीर ऐतिहासिक पुरुष के रूप में ही जाने जाते हैं।

३.२० बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. ऋषभ के माता-पिता का नाम क्या था?
२. ऋषभ का विवाह किसके साथ हुआ?
३. ऋषभ ने भरत को कितनी कलाएँ सिखाई?
४. भरत-बाहुबलि के बीच कौन-से युद्ध हुए?
५. 'भगवान ऋषभ पक्षपाती हैं' – यह आरोप किसने लगाया था?

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. भगवान ऋषभ के जीवन दर्शन पर प्रकाश डालते हुए यह बतायें कि उन्होंने कौन-सी सामाजिक परम्पराओं का सूत्रपात किया?
२. भगवान ऋषभ पर लगाये गये आरोप का परिहार भारत ने किस प्रकार किया?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई-१.४ भगवान अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ (Lord Arishtanemi and Parshvanath)

इकाई की रूपरेखा

४.० उद्देश्य
४.१ प्रस्तावना
४.२ भगवान अरिष्टनेमि
- **४.२.१ अरिष्टनेमि महान योद्धा थे**
- **४.२.२ अरिष्टनेमि अद्वितीय शक्तिशाली थे**

४.३ अरिष्टनेमि का विवाह और वैराग्य
४.४ दीक्षा और केवलज्ञान
४.५ राजीमती की प्रव्रज्या
४.६ अरिष्टनेमि का निर्वाण
४.७ अरिष्टनेमि : ऐतिहासिक प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में
४.८ भगवान पार्श्वनाथ
४.९ जन्म और नाम
४.१० विवाह
४.११ रूढ़ परम्परा पर कुठाराघात
४.१२ दीक्षा
४.१३ साधना और केवलज्ञान
४.१४ पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म
४.१५ पार्श्वनाथ : ऐतिहासिक प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में
४.१६ बोध प्रश्न

४.० उद्देश्य

'भगवान अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ' इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

- इन दोनों महापुरुषों के जीवन-दर्शन से परिचित हो सकेंगे।
- अरिष्टनेमि के विवाह का अवसर वैराग्य में बदल गया, इसे जान सकेंगे।
- भगवान पार्श्वनाथ ने किस प्रकार रूढ़ परम्पराओं पर कुठाराघात किया, इसे समझ सकेंगे।
- उनके द्वारा प्रतिपादित चातुर्याम धर्म की विशिष्टता से अवगत हो सकेंगे।
- अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता को विविध प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में समझ सकेंगे।

४.१ प्रस्तावना

भगवान अरिष्टनेमि जैन धर्म के २२वें और भगवान पार्श्वनाथ २३वें तीर्थंकर थे। अरिष्टनेमि भगवान कृष्ण के चचेरे भाई थे। ये अद्वितीय शक्तिशाली और महान योद्धा थे। अरिष्टनेमि बचपन से ही संसार से विरक्त थे किन्तु कृष्ण के समझाने पर माता-पिता की खुशी के लिए इन्होंने राजीमती से विवाह करना स्वीकार किया। विवाह के दिन बारातियों के लिए तैयार किये जाने वाले मांसाहार के निमित्त हो रहे पशुओं के क्रन्दन को सुनकर अरिष्टनेमि का मन संसार से विरक्त हो गया। उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। साधना के द्वारा केवलज्ञान और निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान पार्श्वनाथ की माता का नाम वामादेवी और पिता का नाम अश्वसेन था। पिता की आज्ञा का विरोध न कर पाने के कारण उन्होंने विवाह किया। तीस वर्ष तक वे गृहस्थ अवस्था में रहे, उसके बाद दीक्षा स्वीकार की। साधना के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने चातुर्याम धर्म की शिक्षा दी, जिसका प्रभाव अत्यन्त दूरगामी हुआ।

४.२ भगवान अरिष्टनेमि (Lord Arishtanemi)

भगवान अरिष्टनेमि जैन धर्म के २२वें तीर्थंकर थे। उनका जन्म सोरियपुर के अन्धकवृष्णि कुल में हुआ। उनकी माता का नाम शिवा तथा पिता का नाम समुद्रविजय था। वे चार भाई थे – अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि। अरिष्टनेमि २२वें तीर्थंकर हुए तथा रथनेमि और सत्यनेमि प्रत्येकबुद्ध हुए। अरिष्टनेमि का जीव जब शिवारानी के गर्भ में आया तब माता ने चौदह स्वप्न देखे। श्रावण कृष्णा पंचमी को रानी ने पुत्र-रत्न का प्रसव किया। स्वप्न में रिष्टरत्नमय नेमि देखे जाने के कारण पुत्र का नाम अरिष्टनेमि रखा गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

४.२.१ अरिष्टनेमि महान् योद्धा थे (Arishtanemi a great warrior)

महाराज समुद्रविजय का नाम यादव-कुल के प्रतापी सम्राटों में गिना जाता था। उनके एक अनुज थे वसुदेव। वसुदेव के पुत्र बलराम और श्रीकृष्ण थे। यादव वंश में ये तीनों राजकुमार श्रीकृष्ण, बलराम और अरिष्टनेमि अपनी असाधारण बुद्धि और अपार शक्ति एवं पराक्रम के लिए विख्यात थे। एक बार यादवों की समृद्धि एवं ऐश्वर्य की यशोगाथाएँ सुनकर प्रतिवासुदेव जरासंध ने यादवों के साथ युद्ध करने का निश्चय किया। युद्ध प्रारम्भ हुआ। जरासंध के पुत्रों को यादव वीरों ने मार डाला। अपने पुत्रों को मरते देख जरासंध अत्यन्त कुपित हुआ और बाण-वर्षा करते हुए यादव-सेना को मथने लगा। उसने बलराम पर गदा का भीषण प्रहार किया, बलराम मूर्च्छित हो गए। बलराम की यह दशा देख श्रीकृष्ण ने क्रुद्ध हो जरासंध के सम्मुख ही उसके अवशिष्ट १९ पुत्रों को मार डाला। यह देख जरासंध कुपित हो कृष्ण को मारने दौड़ा। अरिष्टनेमि भी उस युद्धभूमि में उपस्थित थे। इन्द्र ने उनके लिए सर्व शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रथ और मातलि नामक सारथी को भेजा। मातलि ने हाथ जोड़कर अरिष्टनेमि से निवेदन किया – हे त्रिलोकनाथ! यह जरासंध आपके सामने एक तुच्छ कीट के समान है। आपकी उपेक्षा के कारण यह पृथ्वी को यादव-विहीन कर रहा है। प्रभो! यद्यपि आप जन्म से ही सावद्य (पापपूर्ण) कार्यों से विमुख रहे हैं तथापि शत्रु के द्वारा जो आपके कुल का विनाश किया जा रहा है, इस समय आपको उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। मातलि की प्रार्थना सुन अरिष्टनेमि ने अवसर देख युद्ध की बागडोर अपने हाथ में ले ली। पौरंदर शंख का घोष किया। उस शंख के नाद से दसों दिशाएँ, सारा नभमण्डल और शत्रु काँप उठे। इस तरह अरिष्टनेमि ने स्वल्प समय में ही एक लाख शत्रु योद्धाओं को नष्ट कर डाला।

प्रतिवासुदेव को केवल वासुदेव ही मारता है। इस अटल नियम को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अरिष्टनेमि ने जरासंध को नहीं मारा किन्तु अपने रथ को वेग से शत्रु-राजाओं के चारों ओर घुमाते हुए जरासंध की सेना को अवरुद्ध कर रखा। जरासंध और कृष्ण के बीच भयंकर युद्ध हुआ और अन्त में श्रीकृष्ण ने चक्ररत्न से जरासंध का सिर काटकर पृथ्वी पर लुढ़का दिया। अरिष्टनेमि ने पराजित राजाओं को मुक्त किया। वे सब उनके चरणों में नतमस्तक हो बोले – जरासंध और हम लोगों ने अपनी मूढ़तावश स्वयं का सर्वनाश किया है। जिस दिन आप यदुकुल में अवतरित हुए उसी दिन से हमें समझ लेना चाहिए था कि अब यादवों को कोई नहीं जीत सकता। अरिष्टनेमि उन सब राजाओं के साथ कृष्ण के पास पहुँचे। उन्हें देखते ही श्रीकृष्ण रथ से कूद पड़े और अरिष्टनेमि का प्रगाढ़ आलिंगन करने लगे। अरिष्टनेमि के कहने पर श्रीकृष्ण ने उन सब राजाओं के राज्य उन्हें वापस दे दिये।

४.२.२ अरिष्टनेमि अद्वितीय शक्तिशाली थे (Arishtanemi was a unique powerful personality)

कुमार अरिष्टनेमि अद्वितीय शक्तिशाली थे। एक दिन वे यादव कुमारों के साथ घूमते-घूमते वासुदेव कृष्ण की आयुधशाला में पहुँच गए, वहाँ विशालकाय पांचजन्य शंख को देखा। वे उसे उठाने लगे तब आयुधशाला-रक्षक ने प्रणाम कर कहा – यद्यपि आप श्रीकृष्ण के भ्राता हैं और प्रबल पराक्रमी भी हैं, पर आप इसे उठाने का प्रयास न करें, क्योंकि इस शंख को बजाना तो दूर, इसे उठा पाना भी आपके लिए संभव नहीं है। इसको तो केवल श्रीकृष्ण ही उठा और बजा सकते हैं। रक्षक पुरुष की बात सुनकर कुमार अरिष्टनेमि ने बड़ी सरलता से शंख को उठाया और अधर-पल्लवों के पास ले जाकर बजा दिया। दिव्य शंखध्वनि से द्वारिकापुरी गूंज उठी। श्रीकृष्ण साश्चर्य सोचने लगे – इस प्रकार इतने अपरिमित वेग से शंख बजाने वाला कौन हो सकता है? क्या कोई चक्रवर्ती प्रकट हो गया है या इन्द्र पृथ्वी पर आया है? थोड़ी ही देर में आयुधशाला के रक्षक ने आकर कृष्ण से निवेदन किया – हे देव! कुतूहलवश कुमार अरिष्टनेमि ने आयुधशाला में पांचजन्य शंख बजाया है। श्रीकृष्ण को उसका अपरिमित बल देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ।

श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि से कहा – अब तक मेरी यह धारणा थी कि मेरे सिवाय इस शंख को और कोई नहीं बजा सकता, किन्तु मुझे प्रसन्नता है कि मेरे छोटे भाई ने इस शंख को बजाया है। मैं चाहता हूँ कि आयुधशाला में चलकर हम दोनों भाई परीक्षा कर लें कि किसमें कितना अधिक बाहुबल है। कुमार अरिष्टनेमि ने कहा – यदि आपको मेरा बाहुबल ही जानना है तो इस आसन से मेरा पैर ही विचलित कर दीजिए। श्रीकृष्ण ने प्रयास किया पर वे पैर को उठा पाना तो दूर एक अंगुली को भी हिला नहीं पाये। अन्त में शान्त होकर, हाथ जोड़कर बोले – भगवन्! मान लिया, आपका बल लोकोत्तर है।

४.३ अरिष्टनेमि का विवाह और वैराग्य (Arishtanemi's marriage and Renunciation)

अरिष्टनेमि युवा हुए। वे विरक्त थे। इन्द्रिय-विषयों के प्रति उनका अनुराग नहीं था। पिता समुद्रविजय ने सोचा कि कोई ऐसा उपक्रम किया जाये जिससे कि अरिष्टनेमि विषयों के प्रति आसक्त होकर गृहस्थ जीवन जीये। अनेक प्रयत्न किये, अनेक प्रलोभन दिये जाने पर भी वे अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुए। अन्त में कृष्ण के समझाने पर वे विवाह करने के लिए राजी हो गए।

सत्यभामा की बहिन राजीमती को कुमार के लिए सर्वप्रकार से योग्य पाकर श्रीकृष्ण ने कन्या के पिता उग्रसेन से इस सम्बन्ध में प्रस्ताव रखा। उग्रसेन ने इस प्रस्ताव को तुरन्त स्वीकार कर लिया। उग्रसेन द्वारा स्वीकृति मिलते ही कृष्ण महाराज समुद्रविजय के पास आये और अरिष्टनेमि एवं राजमीती के संबंध की बात कही। समुद्रविजय ने गद्‌गद् स्वर में कहा – कृष्ण! तुम्हारी पितृभक्ति और भ्रातृप्रेम बहुत ही उच्च कोटि का है। इतने दिनों से हमारी जो मनोभिलाषा पूरी नहीं हो रही थी, तुमने उसे पूरा कर दिया है। पुत्र! बड़ी कठिनाई से अरिष्टनेमि ने विवाह करने की स्वीकृति दी है अत: अब काल का व्यवधान करना ठीक नहीं। 'शुभस्य शीघ्रम्' अर्थात् अच्छे और शुभ कार्य में विलम्ब नहीं करना चाहिए।

शादी की तैयारियां शुरू हो गयी। विवाह से पूर्व किये जाने वाले सारे रीति-रिवाज संपन्न हुए। विवाह का दिन आया। अरिष्टनेमि की बारात सजायी गई। कुमार के हाथी के आगे अनेक यादव कुमार घोड़ों पर सवार हो चल रहे थे। दोनों पार्श्व में मत्त हाथियों पर बैठे हजारों राजा चल रहे थे। अरिष्टनेमि के हाथी के पीछे – बलराम और कृष्ण हाथियों पर आरूढ़ थे। मधुर मंगल गीत गाये जा रहे थे। इस प्रकार बड़े ही ठाठ-बाट के साथ कुमार की बारात महाराज उग्रसेन के प्रासाद की ओर बढ़ रही थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

राजीमती भी अलंकृत हुई। सखियों से घिरी वह अपने सौभाग्य की सराहना कर रही थी। सहसा उसकी दाहिनी आँख और भुजा फड़कने लगी। अनिष्ट की आशंका से उसका हृदय धड़कने लगा। सखियों ने उसे ढाढ़स बँधाया – 'इस मंगलमय बेला में तुम अमंगल की आशंका क्यों कर रही हो?'

बारात प्रासाद के निकट पहुँचने वाली थी, तभी कुमार की दृष्टि एक बाड़े में बँधे, भय से व्याकुल वन्य पशुओं पर गई। उनका करुण क्रन्दन उसके कानों में सुनाई दिया। कुमार ने सारथी से पूछा – यह किसका करुण क्रन्दन सुनाई दे रहा है। सारथी ने कहा – स्वामिन! यह पशुओं का क्रन्दन है। आपके विवाहोत्सव में जो राजा आये हैं, उनके लिए इनका माँस तैयार किया जायेगा। मृत्यु के भय से ये क्रन्दन कर रहे हैं। सारथी के वचन सुनकर कुमार ने कहा – एक की प्रसन्नता के लिए दूसरों की हिंसा करना घोर अधर्म है। सारथी! मैं विवाह के लिए तनिक भी उत्सुक नहीं हूँ। तुम इन प्राणियों को बन्धनमुक्त कर दो। पशु-पक्षियों को तत्क्षण मुक्त कर दिया गया। कुमार ने सारथी से कहा – रथ को वापस मोड़ लो। मुझे ऐसा विवाह नहीं करना है, जिसमें मूक प्राणियों की बलि दी जाती हो। उन्हें लौटते देख यादवों पर मानो वज्रपात-सा हो गया। माता शिवा, पिता समुद्रविजय, श्रीकृष्ण, बलदेव आदि सभी यादव मुख्य अपने-अपने वाहनों से उतर पड़े। सबने समझाया –कुमार! इस मंगल महोत्सव से मुख मोड़कर कहाँ जा रहे हो?

विरक्त कुमार ने कहा – तात! जिस प्रकार ये पशु-पक्षी बन्धनों से बँधे हुए थे, उसी तरह आप और हम सब भी कर्मों के प्रगाढ़ बन्धन में बँधे हुए हैं, जिस प्रकार मैंने इन पशु-पक्षियों को बंधन-मुक्त कर दिया। उसी प्रकार मैं अब अपने आपको कर्म-बन्धन से सदा सर्वदा के लिए मुक्त करने के लिए दीक्षा ग्रहण करूंगा। माता-पिता की आशाओं पर तुषारापात हो गया। वे मूर्च्छित हो वहीं गिर पड़े। सबने कुमार को समझाया –साधारण मानव भी अपने माता-पिता को प्रसन्न रखने का पूरा प्रयास करता है, फिर आप तो महान् पुरुष हैं। आपको माता-पिता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार इन दीन पशु-पक्षियों को प्राण दान देकर आपने प्रमुदित कर दिया है, उसी प्रकार अपने विवाह के सुन्दर दृश्य को दिखाकर इन प्रिय बन्धु-बान्धवों को भी प्रसन्न कर दीजिए। अरिष्टनेमि का मन संसार से विरक्त हो चुका था अत: उन पर किसी के भी उपदेश का असर नहीं हुआ। बिना विवाह किये ही वे द्वारिका नगरी आ गये।

४.४ दीक्षा और केवलज्ञान (Initiation and attainment of Omniscience)

अरिष्टनेमि की विरक्ति से सभी विस्मित थे। परम सुन्दरी राजीमती जैसी युवती को बिना शादी किये ही छोड़ देना उनका प्रबल आत्मबल था। उनकी विरक्ति को देखकर अनेक युवक भी संसार से विरक्त हो गये और उनके साथ दीक्षित होने के लिए तैयार हो गए। निश्चित तिथि श्रावणशुक्ला छठ को उत्तरकुरु नामक शिविका में बैठकर वे उज्जयंत (रेवतगिरि) पर्वत पर सहस्राम्र उद्यान में आये। प्रभु की निष्क्रमण यात्रा में अपार मानव मेदिनी और चौसठ इन्द्रों के साथ अनगिनत देवगण सम्मिलित हुए। उनकी पालकी को देवताओं और राजा-महाराजाओं ने उठाया। देवों और मानवों के जन-सागर से घिरे हुए वे सहस्राम्र उद्यान में अशोकवृक्ष के नीचे स्थित हुए। अपने सारे आभूषण उतारकर श्रीकृष्ण को अर्पित किये और पंचमुष्टि लोच किया। वासुदेव श्रीकृष्ण ने अवस्था में बड़े होने के कारण अरिष्टनेमि को आशीर्वाद देते हुए कहा – हे दमीश्वर! आप शीघ्रातिशीघ्र अपने लक्ष्य को प्राप्त करें और धर्म का आलोक विश्व में फैलाएँ।

भगवान अरिष्टनेमि ने एक हजार विरक्त व्यक्तियों के साथ दीक्षा ग्रहण की। वासुदेव श्रीकृष्ण आदि सब उन्हें वन्दना कर अपने महलों में लौट आये। दीक्षा के दिन भगवान के तेला (तीन दिन का उपवास) था। दूसरे दिन वरदत्त ब्राह्मण के यहाँ परमान्न (खीर) से उनका पारणा हुआ। अहो दानम्! अहो दानम्! की दिव्य ध्वनि के साथ देवताओं ने दुन्दुभि बजाई। दिव्य ध्वनि, सुगन्धित जल, पुष्प, दिव्य वस्त्र और स्वर्ण मुद्राएँ – ये पाँच द्रव्य देवों ने प्रकट किये। दीक्षा के बाद अरिष्टनेमि की चौपन रात्रियां छद्मस्थ अवस्था में बीतीं। ध्यान की उत्कृष्ट साधना के द्वारा उन्होंने कर्मों की महान् निर्जरा की। एक बार पुन: उज्जयंत पर्वत पर पधारे। उसी रात्रि में उन्होंने क्षपकश्रेणी लेकर केवलज्ञान प्राप्त किया। देवों ने उत्सव कर समवसरण की रचना की। द्वारिका के नागरिक भगवान के सर्वज्ञ बनने की बात सुन हर्षविभोर हो उठे। वासुदेव कृष्ण सहित सभी लोगों ने वहाँ आकर भगवान के दर्शन किये। चतुर्विध तीर्थ की स्थापना हुई।

४.५ राजीमती की प्रव्रज्या (Initiation of Rajimati)

अरिष्टनेमि की बारात वापस लौट जाने से राजीमती की आशंका सच में बदल गई। वह अपने तन-मन की सुधि भूल दिन-रात अरिष्टनेमि के चिंतन में ही डूबी रहने लगी। वह सोचने लगी – 'धिक्कार है मेरे जीवन को, जो मैं प्राणनाथ अरिष्टनेमि के द्वारा ठुकराई गई हूँ। अब तो उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करना मेरे लिए श्रेयस्कर है।' अपने माता-पिता से अनुमति प्राप्त कर वह भी अपनी अनेक सहेलियों के साथ प्रव्रजित हो गई। उसने द्वारिका में अन्य बहुत से स्वजनों एवं परिजनों को भी दीक्षा दी।

४.६ अरिष्टनेमि का निर्वाण (Emancipation of Arishtanemi)

भगवान अरिष्टनेमि ३०० वर्ष तक कुमार अवस्था में रहे। आश्विन कृष्णा अमावस्या के दिन केवलज्ञान प्राप्त किया। ७०० वर्ष से कुछ कम वे अर्हत् अवस्था में रहे। इस प्रकार १००० वर्षों का आयुष्य पूर्ण होने पर वे परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

जीवन के अन्तिम समय में ५३६ साधुओं के साथ वे उज्जयंत गिरि पर पहुँचे। ३० दिनों के अनशन में आषाढ़ शुक्ला अष्टमी की मध्य रात्रि में वे अघाति कर्मों का नाश कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये। निर्वाण को प्राप्त हो गये।

४.७ अरिष्टनेमि : ऐतिहासिक प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में (Arishtanemi : In the perspective of Historical Evidence)

भगवान अरिष्टनेमि को आज के इतिहासकार भी महापुरुष के रूप में स्वीकार करते हैं। कृष्ण और अरिष्टनेमि का पारिवारिक संबंध था। दोनों चचेरे भाई थे। कृष्ण ने ही अरिष्टनेमि के विवाह के लिए प्रयत्न किया था। उनकी दीक्षा के समय भी वे उपस्थित थे। कृष्ण के प्रिय अनुज गजसुकुमाल ने भी अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली। कृष्ण की आठ पत्नियाँ भी अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित हुई थी। कृष्ण के पुत्र और अनेक पारिवारिक लोग अरिष्टनेमि के शिष्य बने थे। छान्दोग्य के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु घोर आंगिरस ऋषि थे। जैन आगमों के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि थे। घोर आंगिरस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ने कृष्ण को जो आत्मवादी धारणा का उपदेश दिया, वह जैन परम्परा से भिन्न नहीं है। 'इसिभासिय' में आंगिरस नामक प्रत्येकबुद्ध का उल्लेख है। वे भगवान अरिष्टनेमि के शासन काल में हुए थे। इस आधार पर यह संभावना की जा सकती है कि घोर आंगिरस या तो अरिष्टनेमि के शिष्य थे या उनके विचारों से प्रभावित कोई संन्यासी रहे होंगे।

ऋग्वेद में चार बार अरिष्टनेमि शब्द का प्रयोग हुआ है। महाभारत में प्रयुक्त 'तार्क्ष्य' शब्द अरिष्टनेमि का पर्यायवाची नाम माना जाता है। वैदिक साहित्य के अनुसार श्रीकृष्ण यदुवंश से उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम वसुदेव था और माता का नाम देवकी था। जैन आगमों के अनुसार भी उनके पिता का नाम वसुदेव था और वे अन्धकवृष्णि अथवा वृष्णिकुल में उत्पन्न हुए थे। अरिष्टनेमि और कृष्ण के जीवनवृत्त स्वत: जुड़े हुए हैं। दोनों ही एक वंश और परिवार के थे। वासुदेव कृष्ण को यदि ऐतिहासिक व्यक्ति माना जाये तो अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक न मानने का कोई कारण उपलब्ध नहीं होता। ये दोनों ही भारतीय संस्कृति के दो महान पुरस्कर्त्ता हैं। अरिष्टनेमि निवृत्ति मार्ग के उपदेष्टा थे। जैन परम्परा के अनुसार भगवान कृष्ण आगामी उत्सर्पिणी काल में बारहवें 'अमन' नामक तीर्थंकर होंगे।

४.८ भगवान पार्श्वनाथ (Lord Parshvanath)

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष हैं। इनका तीर्थ प्रवर्तन भगवान महावीर से २५० वर्ष पहले हुआ। भगवान महावीर के समय तक इनकी परम्परा अविच्छिन्न थी। भगवान महावीर के माता-पिता भगवान पार्श्व के अनुयायी थे। अहिंसा और सत्य की साधना को समाजव्यापी बनाने का श्रेय भगवान पार्श्व को है। अहिंसक परम्परा के उन्नयन के द्वारा वे बहुत लोकप्रिय हो गए थे। इसकी जानकारी हमें भगवान पार्श्वनाथ के लिए प्रयुक्त पुरुषादाणीय विशेषण के द्वारा मिलती है।

४.९ जन्म और नाम (Birth and christening ceremony)

पौष कृष्णा दशमी की मध्य रात्रि में वाराणसी के नरेश अश्वसेन की महारानी वामादेवी की कुक्षि से पार्श्वनाथ का जन्म हुआ। देवेन्द्रों के उत्सव के बाद राजा अश्वसेन ने राज्य भर में जन्मोत्सव का विशेष आयोजन किया।

नामकरण के दिन विराट् प्रीतिभोज रखा गया। नाम देने के सन्दर्भ में राजा अश्वसेन ने कहा – जब बालक गर्भ में था तब मैं एक बार रानी के साथ उपवन में गया था। अँधेरी रात थी। कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था, उसी समय एक कालिन्दर सर्प आ निकला। काली रात और काला नाग, कैसे दिखाई देता? फिर भी पार्श्व में चलता हुआ सर्प रानी को दिखाई दे गया। वह मुझे जगाकर वहां से अन्यत्र ले गई। तभी मैं जीवित बच सका। मेरी दृष्टि में यह गर्भ का ही प्रभाव था कि उसे पार्श्व में स्थित सर्प दिखाई दिया। अत: बालक का नाम पार्श्वकुमार रखा जाये। सभी ने बालक को इसी नाम से पुकारा।

४.१० विवाह (Marriage)

पार्श्वनाथ सांसारिक विषयों के प्रति सर्वथा अनासक्त थे। विवाह के प्रपंच में वे फंसना ही नहीं चाहते थे, किन्तु माता-पिता के आग्रह पर उन्होंने कुशस्थलपुर नरेश प्रसेनजित की पुत्री राजकुमारी से विवाह किया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार उन्होंने विवाह ही नहीं किया था पर श्वेताम्बर परम्परा यह मानती है कि पिता की आज्ञा का विरोध न कर पाने के कारण उन्होंने विवाह किया, पर सर्वथा निर्लिप्त भाव से ही वे गृहस्थ जीवन में रहे। उनका विराग का भाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था।

४.११ रूढ़ परम्परा पर कुठाराघात (Severe blow on the superstitous tradition)

एक बार राजकुमार पार्श्व गंगा के किनारे घूमने निकले। वहां 'कमठ' तापस पंचाग्नि तप कर रहा था। चारों दिशाओं में अग्नि जल रही थी और ऊपर से सूर्य का प्रचण्ड ताप आ रहा था। झुण्ड के झुण्ड भक्त लोग वहां आ रहे थे और विभूति का प्रसाद लेकर अपने आपको धन्य और कृतकृत्य मान रहे थे। पार्श्वनाथ ने अपने अवधिज्ञान से जाना कि धूनी में जो लक्कड़ पड़ा है, उसमें एक बहुत बड़ा नाग-नागिन का जोड़ा जल रहा है। उसके जलने की तीव्र आशंका से कुमार का हृदय दया से द्रवित हो गया। वे मन ही मन सोचने लगे – ''अहो! कैसा अज्ञान है, तप में भी दया नहीं।''

पार्श्वकुमार ने तापस से कहा – धर्म का मूल दया है, वह आग के जलाने में किस तरह संभव हो सकती है? क्योंकि अग्नि प्रज्वलित करने से विविध प्रकार के जीवों का विनाश होता है।

पार्श्वकुमार की बात सुनकर तापस आग-बबूला हो बोल उठा – कुमार! तुम धर्म के विषय में क्या जानते हो? तुम्हारा काम हाथी-घोड़ों पर मनोविनोद करना है। धर्म का मर्म तो हम जानते हैं। इतनी बढ़कर बात करते हो तो क्या इस धूनी में कोई जलता हुआ जीव बता सकते हो?

यह सुनकर राजकुमार ने सेवकों को अग्निकुण्ड में से लक्कड़ निकालने की आज्ञा दी। आग में से बाहर निकालकर लक्कड़ को सावधानीपूर्वक चीरा गया। उसमें से जलता हुआ साँप का एक जोड़ा निकला। पार्श्वकुमार ने झुलसते हुए सर्प को नमस्कार महामंत्र सुनाया, प्रत्याख्यान करवाया। शुभ भावों में आयु पूर्ण कर वह नाग 'नाग जाति' के भवनवासी देवों में धरणेन्द्र नाम का इन्द्र बना और नागिन पद्मावती देवी बनी।

इस प्रकार कुमार की अतीन्द्रिय चेतना एवं कृपा से नाग का उद्धार हुआ। सभी उनके ज्ञान और विवेक की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगे। कुमार द्वारा इस प्रकार के अज्ञान तप का पर्दाफाश करना, उस युग में प्रचलित रूढ़ परम्पराओं पर एक कुठाराघात था। पार्श्व ने जनता के समक्ष इस सत्य को उजागर किया कि हिंसा, अज्ञान आदि के द्वारा आत्म-हित नहीं सध सकता। जनता ने धर्म के सही स्वरूप को समझा। धीरे-धीरे तापस की प्रतिष्ठा कम होने लगी। चारों ओर उसका तिरस्कार होने लगा। वहाँ से आयु पूर्ण कर वह अपने अज्ञान तप के कारण असुर-कुमारों में मेघमाली नाम का देव बना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

४.१२ दीक्षा (Initiation)

तीस वर्ष तक राजकुमार के रूप में गृहवास में रहने के बाद भगवान पार्श्व दीक्षा के लिए उद्यत हुए। वर्षीदान देकर पौष कृष्णा एकादशी के दिन सौ व्यक्तियों के साथ वाराणसी के आश्रम पद उद्यान में दीक्षा ली, पंचमुष्टि लोच किया। सावद्य योगों (पापकारी प्रवृत्तियों) का सर्वथा त्याग किया। उस दिन तेले की तपस्या थी। दूसरे दिन उद्यान से विहार कर कोपकटक सन्निवेश में पधारे और धन्य गाथापति के घर खीर से पारणा किया। देवों ने देव-दुंदुभि द्वारा दान का महत्त्व बताया।

४.१३ साधना और केवलज्ञान (Austerities and attainment of omniscience)

पार्श्वनाथ अपनी साधना में लीन थे। वाराणसी से विहार कर वे शिवपुरी नगर पधारे और कौशाम्ब वन में ध्यानस्थ हो खड़े हो गये। इधर 'कमठ' तापस ने देव होने के बाद अपने अवधिज्ञान से पार्श्वनाथ को देखा। देखते ही पूर्वजन्म का वैर जाग पड़ा और भगवान को कष्ट देने के लिए वहां आ पहुंचा। वह सिंह, चीता, मत्त हाथी, आशुविष वाला बिच्छू और साँप आदि के रूप बनाकर भगवान को कष्ट देने लगा। किन्तु प्रभु मेरु की भाँति अडोल खड़े थे। अपनी विफलता से देव और अधिक कुपित हो उठा। उसने वैक्रियलब्धि से घनघोर मेघघटा की रचना की। भयंकर गर्जना और विद्युत की कड़कड़ाहट के साथ मुसलाधार वर्षा होने लगी। चारों ओर पानी बहने लगा। पानी बढ़ता-बढ़ता घुटने, कमर, छाती को पार करता हुआ भगवान के नासाग्र तक पहुँच गया। फिर भी प्रभु अडोल थे। तभी धरणेन्द्र का आसन कंपित हुआ। अवधिज्ञान से उसने भगवान को पानी में खड़े देखा। तत्काल प्रभु की सेवा में पहुँचा। वन्दन करके प्रभु के पैरों के नीचे एक विशाल नाल वाला पद्म (कमल) बनाया। भगवान के ऊपर स्वयं ने सात फणों वाला सर्प बनकर छत्र बना दी। प्रभु समभाव में थे, न कमठ पर रोष और न धरणेन्द्र पर अनुराग। कमठासुर फिर भी बारिश करता रहा। तब धरणेन्द्र ने फटकारते हुए कमठ से कहा – हे दुष्ट! अब भी तू अपनी धृष्टता नहीं छोड़ेगा? उपकार के बदले अपकार का पाठ तूने कहाँ से पढ़ा है? जिन्होंने तुम्हें अज्ञानगर्त से निकाला, समुज्ज्वल सुमार्ग दिखाया, उनके प्रति कृतघ्न होकर तू उनको ही कष्ट दे रहा है।

धरणेन्द्र की फटकार से कमठ भयभीत हुआ। तत्काल अपनी माया को समेटा और भगवान के चरणों में क्षमायाचना कर अपने स्थान पर लौट गया। धरणेन्द्र भी पार्श्व की सेवा-भक्ति कर वहां से चला गया।

उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर भगवान अपनी अखण्ड साधना में रत रहे। इस प्रकार तेरासी रातें अभिग्रह और ध्यान में बिताई। चौरासीवें दिन आश्रम पद उद्यान में घातकी वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए क्षपकश्रेणी ली। घाति कर्मों का क्षय किया और केवलज्ञान प्राप्त किया।

देवेन्द्र ने केवल महोत्सव किया। समवसरण की रचना की। वाराणसी के हजारों लोग सर्वज्ञ भगवान के दर्शनार्थ आये। प्रभु ने प्रवचन दिया। उनके प्रथम प्रवचन में ही तीर्थ की स्थापना हो गई। अनेक व्यक्तियों ने अगार (श्रावक) और अणगार (श्रमण) धर्म को स्वीकार किया। अन्त में १०० वर्ष की आयु में ई.पू. ७७७ में उन्होंने मोक्षपद को प्राप्त किया।

४.१४ पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म (Chaturyama Dharma of Parshvanath)

भगवान पार्श्वनाथ के धर्म को चातुर्याम धर्म भी कहते हैं। जैन परम्परा के अनुसार चातुर्याम धर्म के प्रथम प्रवर्तक भगवान अजितनाथ और अन्तिम प्रवर्तक भगवान पार्श्वनाथ थे। इसके बाद भगवान महावीर ने पांच महाव्रत धर्म की व्याख्या दी थी। अत: पार्श्वनाथ का धर्म **'चातुर्याम धर्म'** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर पांच महाव्रत रूप संयम धर्म का प्रवर्तन करते हैं। शेष बाईस तीर्थंकर चातुर्याम धर्म के प्ररूपक होते हैं। चातुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य को पृथक् याम नहीं माना गया किन्तु ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह के अन्तर्गत ही ले लिया गया, क्योंकि स्त्री को भी परिग्रह माना गया है। ब्रह्मचारी स्त्री का त्याग करता है, अत: अपरिग्रह याम में ब्रह्मचर्य सहज ही आ जाता है। चातुर्याम धर्म का विकास ही पंचमहाव्रत धर्म है।

भगवान पार्श्वनाथ ने जिस चारित्र धर्म की शिक्षा दी, वह चातुर्याम – चर व्रत के रूप में थी, यथा – १. सर्वथा प्राणातिपात-विरमण (अहिंसा) २. सर्वथा मृषावाद-विरमण (सत्य), ३. सर्वथा अदत्तादान-विरमण (अचौर्य), ४. सर्वथा बहिद्धादान-विरमण (अपरिग्रह)

१. सर्वप्राणातिपात-विरमण (Total abstinence from violence)

जैन धर्म में छ: जीवनिकाय माने गये हैं – पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। इन जीवनिकायों की हिंसा का नवकोटि से प्रत्याख्यान करना सर्वप्राणातिपात-विरमण है।

२. सर्वमृषावाद-विरमण (Total abstinence from falsehood)

सब प्रकार के मृषावाद से सर्वथा विरत होना, किसी भी प्रकार का छोटा-बड़ा झूठ नहीं बोलना, सर्वमृषावाद-विरमण है।

३. सर्वअदत्तादान-विरमण (Total abstinence from steadling)

बिना अनुमति के अदत्त वस्तु का ग्रहण नहीं करना, सर्वअदत्तादान-विरमण है।

४. सर्वबहिद्धादान-विरमण (Total abstinence from possessing things)

सब प्रकार के जड़-चेतन, बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त होना, उन पर मूर्च्छा नहीं रखना, सर्वबहिद्धादान-विरमण है।

यम का अर्थ दमन करना है। चार प्रकार से आत्मा का दमन करना अर्थात् उसे नियंत्रित रखना ही चातुर्याम धर्म का मर्म है। उन्होंने अपने उपदेशों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इस चातुर्याम संवर पर अधिक बल दिया, जिसका प्रभाव जन-जन के मानस पर पड़ा। इतिहासकारों ने उनके धर्म के बारे में लिखा है – ''श्री पार्श्वनाथ भगवान का धर्म सर्वथा व्यवहार्य था। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुव्यवस्थित रूप देने का यह पहला उदाहरण है। पार्श्वनाथ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ने सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह – इन तीनों नियमों के साथ अहिंसा का मेल बिठाया जिससे जो अहिंसा अरण्य में रहने वाले ऋषि-मुनियों के आचरण में ही थी, उसे इन तीन नियमों के सहयोग से सामाजिक और व्यावहारिक बनाया।''

भगवान पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म का प्रभाव अत्यन्त दूरगामी हुआ। उसके बाद जितने धर्म संस्थापक हुए उन्होंने अपने धर्म-सिद्धान्तों की रचना में पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म की बड़ी सहायता ली। इनमें आजीवक मत के संस्थापक गोशालक और बौद्ध मत के संस्थापक बुद्ध मुख्य हैं।

इस प्रकार सत्तर वर्ष तक भगवान साधना करते रहे। विभिन्न प्रदेशों की पदयात्रा करके उन्होंने लाखों-लाखों लोगों को मार्गदर्शन दिया। अन्त में वाराणसी से आमलकल्पा आदि विभिन्न नगर सन्निवेशों में होते हुए सम्मेदशिखर पधारे। तैंतीस चर्मशरीरी मुनियों के साथ अनशन किया। एक मास के अनशन में श्रावण शुक्ला अष्टमी के दिन अवशिष्ट चार अघाती कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त किया।

४.१५ पार्श्वनाथ : ऐतिहासिक प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में (Parshvanath : In the perspective of Historical Evidence)

भगवान पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे, यह आज ऐतिहासिक तथ्यों से प्रमाणित हो चुका है। डॉ. शारपेण्टियर के अनुसार – जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों के प्रमुख तत्त्व महावीर से बहुत पहले पार्श्वनाथ के समय से ही व्यवस्थित थे। ऐसा प्रतीत होता है, महावीर से पहले भी जैन साधु विद्यमान थे, जो पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित संघ से संबंधित थे। आचारांग सूत्र आदि से भी पता लगता है कि महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। जैन साहित्य में ही नहीं बौद्ध साहित्य में निर्ग्रन्थों का बहुतायत से उल्लेख किया गया है। मज्झिमनिकाय के महासिंहनाद सूत्र में बुद्ध ने अपनी कठोर तपस्या का वर्णन करते हुए तप के चार प्रकार बताये हैं, जो इस प्रकार हैं – १. तपस्विता, २. रुक्षता, ३. जुगुप्सा, ४. प्रविविक्तता। इनका अर्थ है – तपस्या करना, स्नान नहीं करना, जल की बूँद पर भी दया करना और एकान्त स्थान में रहना। ये चारों तप निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में होते थे। स्वयं भगवान महावीर ने भी इनका पालन किया था और अन्य निर्ग्रन्थों के लिए भी इनका पालन आवश्यक था।

बौद्ध साहित्य दीर्घनिकाय में अजातशत्रु द्वारा भगवान महावीर और उनके शिष्यों को चातुर्याम युक्त कहलाया गया है। यद्यपि भगवान महावीर की परम्परा पांच महाव्रत रूप रही है, फिर भी उसे चातुर्याम रूप से कहना इस बात की ओर संकेत करता है कि बौद्ध भिक्षु पार्श्वनाथ की परम्परा से परिचित रहे हैं और उन्होंने महावीर के धर्म को भी उसी रूप में देखा है। हो सकता है बुद्ध और उनके अनुयायी विद्वानों को भगवान महावीर की परम्परा में जो आन्तरिक परिवर्तन हुआ, उसका पता न चला हो। बुद्ध के पूर्व की यह चातुर्याम परम्परा भगवान पार्श्वनाथ की ही देन थी।

इस प्रकार तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष थे। उनका तीर्थ प्रवर्तन भगवान महावीर से २५० वर्ष पूर्व हुआ। भगवान महावीर के समय तक उनकी परम्परा अविच्छिन्न थी। भगवती सूत्र, उत्तराध्ययन आदि में भगवान महावीर के समय भगवान पार्श्व की परम्परा विद्यमान थी, ऐसे उल्लेख मिलते हैं।

४.१६ बोध प्रश्न

प्रश्न १. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें

१. अरिष्टनेमि के माता-पिता का नाम क्या था?

२. अरिष्टनेमि के वैराग्य का कारण क्या था?

३. अरिष्टनेमि और कृष्ण का परस्पर क्या संबंध था?

४. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म कौन-सा है?

५. झुलसते हुए नाग और नागिन मरने के बाद क्या बने?

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. भगवान अरिष्टनेमि का परिचय देते हुए उनके चातुर्याम धर्म का विवेचन करें।

२. भगवान पार्श्वनाथ का परिचय देते हुए उनके चातुर्याम धर्म का विवेचन करें।

३. सिद्ध करें कि भगवान अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)/Ladnun

संवर्ग-२

भगवान महावीर और उनकी उत्तरवर्ती परम्परा
(Lord Mahaveer and his Subsequent Tradition)

संवर्ग प्रस्तावना

भगवान् महावीर जैन धर्म के २४वें तीर्थंकर थे। आचारांग के नवें अध्ययन तथा कल्पसूत्र में हमें भगवान महावीर के जीवन-दर्शन का सुन्दर विवेचन मिलता है। महावीर एक जन्म की साधना में ही महावीर नहीं बने, मानव से महामान्व के पद पर नहीं पहुंचे। अनेक जन्म-मरण की परम्पराओं से गुजरते हुए 'नयसार' के भव में उन्होंने विकास की सही दिशा पकड़ी, सम्यक् दर्शन को प्राप्त किया और सत्ताइसवें भव में वे महावीर बने। जैन धर्म के २४वें तीर्थंकर बने।

तीर्थंकर तीर्थ की स्थापना करते हैं किन्तु वे गण (संघ) की व्यवस्था का संचालन नहीं करते। गण की व्यवस्था का संचालन करने वाले गणधर कहलाते हैं। भगवान महावीर के समय ग्यारह गणधर थे। हजारों की संख्या में साधु और साध्वियां थी। कुछ साधु संघ की चालू परम्परा में किसी एक विषय में मतभेद हो जाने के कारण संघ से पृथक् हो गए, किन्तु किसी अन्य धर्म को स्वीकार नहीं किया। ऐसे साधुओं को जैन धर्म में निह्नव की संज्ञा दी गई। निह्नव सात हुए हैं। भगवान महावीर के समय तीन सौ तिरेसठ सम्प्रदाय थे। सभी सम्प्रदायों को चार वर्गों में समाहित किया गया था – क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, विनयवाद। भगवान महावीर के समय और उनके बाद भी जब तक एक नेतृत्व करने वाले सक्षम आचार्य थे तब तक जैन शासन में एकत्व बना रहा। आगे चलकर जैन शासन श्वेताम्बर और दिगम्बर – इन दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। तब से लेकर अब तक दोनों ही सम्प्रदायों में अनेक प्रभावशाली आचार्य हुए हैं।

'भगवान महावीर और उनकी उत्तरवर्ती परम्परा' इस इकाई में मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है –

१. भगवान महावीर का जीवन दर्शन और साधना।

२. गणधरवाद और निह्नव।

३. भगवान महावीर के समकालीन सम्प्रदाय और जैनधर्म के मुख्य सम्प्रदाय।

४. श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्य।

भगवान महावीर का जीवन दर्शन और साधना
(Lord Mahaveer and his Austerities)

इकाई की रूपरेखा

१.० उद्देश्य
१.१ प्रस्तावना
१.२ भगवान महावीर का जन्म और नामकरण
१.३ भगवान महावीर का गृहस्थ जीवन
  १.३.१ बालक्रीड़ा
  १.३.२ पाठशाला में
  १.३.३ विवाह
  १.३.४ महाभिनिष्क्रमण
१.४ महावीर की साधना
१.५ उपसर्ग
  १.५.१ ग्वाले का उपसर्ग
  १.५.२ पैरों पर भात पकाए
  १.५.३ संगम द्वारा परीक्षा
  १.५.४ आदिवासियों के बीच
१.६ साधना के विविध प्रयोग
  १.६.१ निद्रा विजय
  १.६.२ भूख विजय
  १.६.३ आसन विजय
१.७ बोध प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

१.० उद्देश्य

'भगवान महावीर का जीवन दर्शन और साधना' इस विषय का अध्ययन करने के बाद आप –

* भगवान महावीर के जीवन दर्शन को समझ सकेंगे।
* उनके द्वारा किये गए साधना के विविध प्रयोगों को जान सकेंगे।
* अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में भी उनकी उत्कृष्ट कोटि की समता से परिचित हो सकेंगे।

१.१ प्रस्तावना

भगवान महावीर का जन्म कालचक्र के चौथे आरे दुषम-सुषमा में हुआ। उनकी माता का नाम त्रिशला तथा पिता का नाम सिद्धार्थ था। महावीर के वर्द्धमान, ज्ञातपुत्र, सन्मति, श्रमण आदि अनेक नाम थे।

वे बचपन से ही अतीन्द्रिय ज्ञान सम्पन्न थे। माता-पिता की खुशी के लिए उन्होंने यशोदा नाम की कन्या के साथ विवाह किया। माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने संन्यास स्वीकार किया। संन्यास ग्रहण करने के बाद साढ़े बारह वर्ष तक उन्होंने सघन साधना की। अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव से सहन किया। ध्यान की श्रेणी का आरोहण करते-करते वे सर्वज्ञ बन गए। उनकी साधना सिद्धि में बदल गई। इस इकाई में भगवान महावीर के जीवन दर्शन और उनकी साधना पर प्रकाश डाला जा रहा है।

भगवान महावीर का जीवन दर्शन (Lord Mahaveer)

१.२ जन्म (Birth of Mahaveer)

कालचक्र का चौथा आरा दुषम-सुषमा चल रहा था। पंचम आरा शुरू होने में लगभग ७४ वर्ष, ८१ महीने बाकी थे। ग्रीष्म ऋतु थी। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को मध्यरात्रि की बेला में क्षत्रियकुण्ड ग्राम में माता त्रिशला की कुक्षि से महावीर का जन्म हुआ। बालक का जन्मोत्सव मनाने के लिए सर्वप्रथम सौधर्म देवलोक के इन्द्र आये और बालक को मेरुपर्वत के पुंडरीक वन में ले गये। वहां सब इन्द्र-इन्द्रानियों एवं देवों ने मिलकर बालक का जन्माभिषेक किया। बालक के पिता राजा सिद्धार्थ ने पुत्र प्राप्ति की खुशी में मुक्त हृदय से नगर में उत्सव मनाया। कैदियों को बंधन मुक्त कर दिया। नागरिकों का कर माफ कर दिया गया।

१.२ नामकरण (Christening)

व्यक्ति की पहचान के दो माध्यम बनते हैं – नाम और रूप। रूप बालक अव्यक्त जगत से लेकर आता है और नाम उसे इस व्यक्त जगत में मिलता है। जन्म के बारह दिन पश्चात् बालक के नामकरण का आयोजन किया गया पारिवारिक जनों को महाराज सिद्धार्थ ने आमन्त्रित किया। बालक के नामकरण का संस्कार किसी पंडित के द्वारा सम्पन्न न होकर महारानी तथा महाराज के विमर्श में संपन्न हुआ। दोनों ने आगन्तुक अतिथियों और सम्बंधियों को संबोधित कर कहा – जिस दिन यह शिशु गर्भ में आया था, उसी दिन हमारे राज्य-भण्डार में धन-धान्य, सोना-चांदी, मणि-मुक्ता आदि की अपार अभिवृद्धि हुई थी। इसलिए हम चाहते हैं कि इस शिशु का नाम 'वर्धमान' रखा जाए। उपस्थित सभी लोगों ने सिद्धार्थ और त्रिशला के प्रस्ताव का समर्थन किया और 'वर्धमान' के जयघोष के साथ नामकरण-संस्कार संपन्न हुआ। महावीर के और भी अनेक नाम उपलब्ध होते हैं, यथा –

१. **वर्धमान** – माता-पिता के द्वारा प्रदत्त नाम।
२. **महावीर** – देवों द्वारा प्रदत्त नाम।
३. **ज्ञातपुत्र** – पितृवंश के कारण प्राप्त नाम।
४. **सन्मति** – मति सत्य के कारण प्राप्त नाम।
५. **काश्यप** – काश्यप गोत्र के कारण।
६. **देवार्य**– देवों के आदरणीय होने के कारण।
७. **विदेह पुत्र**– मां त्रिशला का विदेह कुल की होने के कारण।
८. **श्रमण** – सहज स्वाभाविक गुणों के कारण।

१.३ भगवान महावीर का गृहस्थ जीवन (Mahaveer's Life as a Householder)

भगवान महावीर बचपन से ही संसार से विरक्त थे। वे अहिंसा, करुणा, अनेकान्त, अपरिग्रह, ध्यान और अतीन्द्रिय ज्ञान के धारक थे। राजमहल में सभी सुविधाएँ उपलब्ध होने पर भी वे संयम का जीवन जीते थे।

१.३.१ बालक्रीड़ा (Childhood activities)

महावीर ने आठवें वर्ष में प्रवेश किया। एक बार वे अपने साथियों के साथ 'आमलकी' नामक खेल खेल रहे थे। इस खेल मे सभी बच्चे वृक्ष की ओर दौड़ते और जो बच्चा सबसे पहले वृक्ष पर चढ़कर उतर आता वह विजेता माना जाता। वर्धमान सबसे आगे दौड़कर पेड़ पर चढ़ गए। उनके साथ-साथ एक सांप भी चढ़ा और पेड़ के तने से लिपट गया। बच्चे डरकर भाग गए। वर्धमान डरे नहीं। वे नीचे उतरे और सांप को पकड़कर एक ओर डाल दिया। बचपन से ही वे साहसी थे।

१.३.२ पाठशाला में (In School)

महावीर प्रारम्भ से ही प्रतिभा-सम्पन्न थे। उन्हें अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त था, पर वे दूसरों के सामने उसका प्रदर्शन नहीं करते थे। पिता सिद्धार्थ ने बालक को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पढ़ने के लिए पाठशाला भेजा। अध्यापक उन्हे पढ़ाने लगे और वे विनयपूर्वक सुनते रहे। इन्द्र ने यह सब देखा और सोचा यह बालक तो अतीन्द्रिय ज्ञान से संपन्न है, अध्यापक इसे क्या पढ़ायेगा ? वे एक ब्राह्मण का रूप बनाकर अध्यापक के पास पहुंचे। व्याकरण सम्बंधी अनेक जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की, अध्यापक उनका समाधान नहीं दे सके। तब बालक वर्धमान ने सहज भाव से सारे प्रश्नों के उत्तर दे दिये। अध्यापक को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे – यह तो स्वयं दक्ष है, इसे मैं क्या पढ़ाऊँगा। इन्द्र ने अपना रूप बदलकर महावीर का परिचय दिया। अध्यापक ने पहले दिन ही उसे स्कूल से मुक्त कर दिया।

१.३.३ विवाह (Marriage)

महावीर अब युवा हो गए। वे शादी के बंधन में बंधना नहीं चाहते थे। ब्रह्मचर्य उनका प्रिय विषय था। भोगों में उनकी रुचि नहीं थी। माता-पिता ने महावीर के समक्ष शादी करने का प्रस्ताव रखा। उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया। वे बचपन से ही अनासक्त थे। माता-पिता ने विवाह करने के लिए बहुत आग्रह किया। महावीर को यह ज्ञात था कि माता-पिता का उसके प्रति प्रगाढ़ स्नेह है। इसी आधार पर उन्होंने गर्भ में यह संकल्प किया था कि जब तक माता-पिता रहेंगे, मैं मुनि नहीं बनूंगा। माता-पिता के इस आग्रह को भी वे टाल नहीं सके और यशोदा नामक कन्या के साथ उनका विवाह हो गया। कालान्तर में यशोदा से एक पुत्री भी उत्पन्न हुई। जिसका नाम प्रियदर्शना रखा गया। युवा होने पर उसका विवाह राजकुमार जमाली से हुआ। इस प्रकार महावीर विवाह बंधन में बंध गये, परन्तु यह बंधन केवल बाहरी था, भीतर से उन्हें नहीं बांध सका। उन्होंने संकल्प किये –

- ❊ गृहस्थ जीवन में यथासंभव ब्रह्मचर्य का पालन करना।
- ❊ छह काय के जीवों की विराधना (घात) नहीं करना।
- ❊ रात्रि-भोजन नहीं करना।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे।

१.३.४ महाभिनिष्क्रमण (Renunciation)

महावीर के माता-पिता भगवान पार्श्व की परम्परा के उपासक थे। महावीर जब अट्ठाईस वर्ष के हुए तब उनका स्वर्गवास हो गया। माता-पिता की उपस्थिति में दीक्षा न लेने की प्रतिज्ञा पूरी हो गई , वे श्रमण बनने के लिए उत्सुक हो गये। अनुमति प्राप्त करने के लिए बड़े भाई नन्दीवर्धन के पास पहुंचे। भाई ने खिन्न मन से कहा – इधर माता-पिता का निधन और इधर तुम्हारा अभिनिष्क्रमण। मैं इन दो आघातों को एक साथ कैसे सहन करूंगा ? महावीर ! मैं चाहता हूँ अब तुम पिताश्री के आसन पर बैठकर शासन करो। महावीर बोले – मुझे शासन में आकर्षण नहीं। मैं आत्मा पर शासन करना चाहता हूँ। भाई के आग्रह पर उन्हें दो वर्ष ओर घर में रुकना पड़ा और तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने अभिनिष्क्रमण किया। वे अमरत्व की साधना के लिए निकल पड़े। 'णमो सिद्धाणं' सिद्धों को नमस्कार कर, संकल्प की भाषा में वे बोले – **''सव्वं मे अकरणिज्जं पावं कम्मं''**, अर्थात् आज से मेरे लिए सभी पापकर्म अकरणीय हैं। केवलज्ञान होने तक देव, मनुष्य, तिर्यञ्च (पशुजगत) जीवों की ओर से जो भी उपसर्ग उत्पन्न होंगे। उनको समता भाव से सहन करूंगा। पारिवारिक व अन्य सभी जनों से विदा लेकर भगवान ने वहां से विहार कर दिया।

१.४ महावीर की साधना (Mahaveera's Austerities)

भगवान महावीर ने साढे बारह वर्ष तक कठोर साधना की। साधना के दौरान आने वाले अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव से सहन किया। उनके जीवन में अनुकूल उपसर्ग भी आये और प्रतिकूल उपसर्ग भी आये।

१.५ उपसर्ग (Hardships)

१. दीक्षा के अवसर पर पारिवारिक जनों ने उनका अभिषेक किया। दिव्य गोशीर्ष चंदन और सुगंधित चूर्ण से उनके शरीर को सुवासित किया। भगवान का शरीर सुगंधमय हो गया। उनके शरीर से प्रस्फुटित सुगंध से आकर्षित हो भौंरे कमलकोशों को छोड़ उनके शरीर पर मंडराने लगे। वे भगवान के शरीर पर बैठे। उन्हें पराग नहीं मिला। वे उड़कर चले गए। परिमल से आकृष्ट हो फिर आए और पराग न मिलने पर रुष्ट हो भगवान के शरीर को काटने लगे। महावीर ने उन्हें समता से सहन किया।

२. भगवान कुमारग्राम में विचरण कर रहे थे। एक दिन कुछ युवक सुगंधि से आकृष्ट हो भगवान के पास आए और प्रार्थना की – राजकुमार ! आपने जिस गंधचूर्ण का प्रयोग किया है, उसके निर्माण की विधि हमें भी बताइये। भगवान ने इसका उत्तर नहीं दिया। वे क्रुद्ध हो गालियाँ देने लग गए।

३. भगवान के सौन्दर्य से आकर्षित हो एक बार रात के समय तीन सुन्दर स्त्रियां आई। भगवान से रति-प्रणय की विविध चेष्टाएँ की। अपना सम्यग् निछावर करने को तैयार हो गई, पर महावीर पर उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ।

१.५.१ ग्वाले का उपसर्ग (Hardship Caused by Cowherds)

कुमारग्राम में भगवान ध्यान में लीन थे, तभी कुछ ग्वाले वहां आये और अपने बैलों को उन्हें संभलाकर गांव में चले गये। थोड़ी देर बाद पुन: लौटकर आये तो देखा उनके बैल वहां नहीं हैं। पूछा-बाबा ! हमारे बैल यहाँ चर रहे थे। हम आपको संभलाकर गये थे, वे कहाँ हैं ? भगवान मौन रहे। ग्वाले बैलों को ढूंढने के लिए चल पड़े। सारी रात ढूंढते रहे पर बैल नहीं मिले। संयोगवश वे बैल रात्रि में महावीर के पास आकर बैठ गए। ग्वालों ने जब प्रात: वहां पर बैलों को बैठे हुए देखा तो क्रुद्ध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हो उठे और उन पर कोड़े बरसाने लगे, तभी इन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा और वहां आकर मूर्ख ग्वालों को समझाया – जिन्हें तुम मार रहे हो, वे हमारे तीर्थंकर भगवान हैं। भगवान से इन्द्र ने प्रार्थना की आपकी उम्र बहुत बाकी है, अत: उपसर्ग आयेंगे। आप मुझे अपनी सेवा में रहने की आज्ञा दें। महावीर ने कहा – **'न भूतं न भविष्यति'** ऐसा न कभी हुआ है और न होगा। अर्हत् कभी दूसरों के बल पर साधना नहीं करते। वे अपने सामर्थ्य से ही कर्मों का क्षय करते हैं। अत: मुझे किसी की सहायता नहीं चाहिए।

१.५.२ पैरों पर भात पकाए (Cooked Rice at His Feet)

भगवान प्राय: ध्यान में लीन रहते थे। एक बार जंगल में वे ध्यान कर रहे थे। वहां एक थका और भूखा पथिक आया। खाना बनाने के लिए इधर-उधर चूल्हा ढूंढ रहा था, पर एक भी पत्थर नहीं मिला। तभी उसे भगवान दिखाई दिये। जिनके कुछ आंगुल की दूरी पर फैले पैर चूल्हे के आकार में प्रतीत हो रहे थे। पथिक ने चरणों के बीच आग प्रज्वलित की और भात (चावल) पकाये। भगवान के पैर झुलस गए, किन्तु उनकी समाधि में कोई फर्क नहीं पड़ा, वे ज्यों के त्यों खड़े रहे।

१.५.३ संगम द्वारा परीक्षा (Testing by Sangama)

एक बार इन्द्र ने अपनी देव परिषद में भगवान महावीर के साधना की प्रशंसा की। इन्द्र ने कहा-उन्हें सम्पूर्ण तीन लोक की देवशक्ति मिलकर भी विचलित नहीं कर सकती। सभी देवों ने इस बात का समर्थन किया। प्रथम देवलोक के एक सामानिक देव संगम ने भी यह बात सुनी। उसे इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह बोला-मैं उसे विचलित कर सकता हूँ और वह भगवान को विचलित करने हेतु वहां से चल पड़ा। भगवान अपनी ध्यान-साधना में लीन थे। संगम देव ने उन्हें विचलित करने हेतु एक रात्रि में बीस मारणान्तिक कष्ट दिये। कभी प्रलयकारी धूलिपात किया तो कभी वज्रमुखी चीटियां बनाकर शरीर को काटा। कभी बिच्छू बनकर डंक मारा तो कभी भीमकाय सर्प बनकर। कभी पैरों एवं दांतों से भगवान को कुचला तो कभी राजा सिद्धार्थ और माता त्रिशला का रूप बनाकर रुदन किया।

महावीर हर कष्ट को समता से सहन कर रहे थे। संगम देव के प्रति आक्रोश के भाव उनके मन में नहीं आये। वे यह सोच रहे थे कि जहां सारी दुनियां मुझे निमित्त बनाकर कर्मों को तोड़ रही है वहां यह मुझे निमित्त बनाकर कर्मों से भारी हो रहा है। संगम भगवान को कष्ट देते-देते थक गया, किन्तु विचलित नहीं कर सका। वह अपने मूल रूप में प्रकट हुआ और भगवान से क्षमा मांगी।

१.५.४ आदिवासियों के बीच (Amongst the Natives)

भगवान ने अपना नौवां चातुर्मास अनार्य देश में आदिवासियों के बीच किया। लोगों ने बहुत समझाया – वहां के लोग हिंसक, क्रूर और मांसाहारी होते हैं। वे नर-मांस खाते हैं। परिचय न बताने पर पिटाई करते हैं, शिकारी कुत्ते पीछे छोड़ देते हैं, अत: आप वहां न जायें। भगवान रुके नहीं, विहार कर आदिवासियों के बीच पहुंच गये। एक बार वे एक गांव में जा रहे थे। ग्रामवासी लोगों ने कहा-नग्न! तुम किसलिए हमारे गांव में जा रहे हो, वापस चले जाओ। ठहरने को किसी ने स्थान नहीं दिया, वे वहां से वापस चले आये और सघन वृक्षों के नीचे विश्राम किया।

एक बार वे पूर्व दिशा की ओर मुंह कर खड़े-खड़े सूर्य का आतप ले रहे थे। कुछ लोग सामने आकर खड़े हो गए, पर भगवान ने उनकी ओर नहीं देखा तो वे चिढ़ गये और उन पर थूककर आगे चले गये। भगवान शांत रहे। बच्चे उनकी आंखों में धूल फेंक जाते, उन पर पत्थर फेंकते, गाली देते पर महावीर के मन में उनके प्रति भी प्रेम प्रवाहित रहता।

प्रश्न होता है महावीर ने इतने कष्टों को कैसे सहन किया। आचार्य महाप्रज्ञ ने इसका बहुत सुन्दर समाधान दिया – एक आदमी समुद्र में तैर रहा था। दूसरा तट पर खड़ा था। तैराक ने डुबकी लगाई। तट पर खड़े आदमी ने सोचा – ''तैराक इतना जलभार कैसे सहता है ? वह नहीं जानता था कि मुक्त जल का भार नहीं लगता। जल-भरा घट सिर पर रखने पर भार की अनुभूति होती है। यह बन्धन की अनुभूति है। शरीर के घट में बंधी हुई चेतना को कष्ट का अनुभव होता है। ध्यान-काल में वह समुद्र-जल की भांति बन्धन-मुक्त हो जाती है। फिर शरीर पर जो कुछ बीतता है, उसका अनुभव नहीं होता।''

१.६ साधना के विविध प्रयोग (Different Experiments Regarding Sadhana)

भगवान प्राय: मौन रहते। पूछने पर संक्षिप्त-सा हां या ना में उत्तर देते। उनका दृष्टि-संयम अनुत्तर था। वे चलते समय इधर-उधर नहीं देखते। सिर्फ मार्ग को देखते हुए चलते। वे प्रकृति विजेता थे। सर्दी में नंगे बदन घूमते। तिनकों के आसन पर नंगे बदन बैठते। सूर्य के सम्मुख होकर आतापना लेते। अनुकूल-प्रतिकूल हर परिस्थिति को समभाव से सहन करते।

भगवान महावीर ने साढे बारह वर्ष तक साधना की और उन आत्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त की जो साधना में बाधक हैं। वे शत्रु कोई व्यक्ति नहीं, हमारा अहंकार और ममकार है। महावीर विजय प्राप्त कर रहे थे नींद पर, भूख पर तथा मन और शरीर की चंचलता पर।

१.६.१ निद्रा-विजय (Conquest Over Sleep)

नींद जीवन का अनिवार्य अंग है। शरीर-शास्त्रीय नियम के अनुसार छह घंटा नींद लेना आवश्यक है। पर महावीर ने इस नियम का अतिक्रमण कर दिया। वे महीनों, वर्षों तक सतत जागते रहे। उनके सामने एक ही काम था। ध्यान, ध्यान और निरन्तर ध्यान। कहा जाता है कि उन्होंने साढ़े बारह वर्ष के साधना काल में कुल एक मुहूर्त्त (४८ मिनिट) नींद ली। प्रश्न हो सकता है कि क्या महावीर को अनिद्रा की बीमारी थी या नींद आती नहीं थी। उन्हें अनिद्रा की बीमारी नहीं थी,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नींद आती थी पर वे उसे उड़ाने का प्रयास करते। जब नींद सताती तो वे चंक्रमण करते, खड़े-खड़े ध्यान करते, कायोत्सर्ग बहुत करते थे। इसलिए उन्हें सहज ही नींद कम आती थी।

१.६.२ भूख-विजय (Conquest Over Hunger)

महावीर दीर्घ तपस्वी थे। पूरे साधनाकाल में सिर्फ तीन सौ पचास दिन भोजन किया और निरन्तर भोजन कभी नहीं किया। उपवास काल में जल कभी नहीं पिया। उनकी कोई भी तपस्या दो उपवास से कम नहीं थी और उत्कृष्ट में उन्होंने निरन्तर छह मास का उपवास किया। स्वाद विजय के अनेक प्रयोग किये। अरस-सरस, ठंडा-गर्म जैसा भी आहार उन्हें मिलता, वे अनासक्ति के साथ उसे खाते। वे उतना ही खाते जितना शरीर धारण के लिए जरूरी होता।

१.६.३ आसन-विजय (Conquest Over Posture)

शरीर और मन की चंचलता साधना में बाधक है। अत: महावीर घंटों-घंटों ध्यान में प्रतिमा की तरह स्थिर रहते। प्रहर-प्रहर तक अनिमेष प्रेक्षा करते। इस अनिमेष प्रेक्षा से मन की चंचलता दूर होती। सोलह दिन-रात तक निरंतर ध्यान-प्रतिमा की साधना की, जिससे उन्होंने शरीर और मन की चंचलता पर विजय प्राप्त की।

साधना करते-करते साढ़े बारह वर्ष बीत गये। ग्रीष्म ऋतु का बैशाख महीना था। शुक्ला दशमी का दिन था। भगवान जंभियग्राम नगर के बाहर ऋजुबालिका नदी के किनारे गोदोहिका आसन में बैठे थे। ध्यान की श्रेणी का आरोहण करते-करते उनकी चेतना अनावरण हो गई। चार घाति कर्मों के बंधन पूर्णत: टूट गये। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गये। उनका साधना काल सम्पन्न हो गया। अब वे सिद्धि के निकट पहुंच गए।

केवली बनते ही चौसठ इन्द्रों व अनगिनत देवी-देवताओं ने भगवान का 'केवल महोत्सव' मनाया। देवों ने समवसरण की रचना की। इस समवसरण में केवल देवी-देवता थे। उन्होंने प्रवचन को सुना, सराहना की। पर महाव्रत एवं अणुव्रत की दीक्षा नहीं ले सके, क्योंकि वे अत्यन्त विलासी होते हैं, संयम और व्रत स्वीकार नहीं करते। अत: महावीर तीर्थ की स्थापना नहीं कर सके। कुछ आचार्य ऐसा भी मानते हैं कि उस प्रवचन में व्यक्ति उपस्थित थे पर वे व्रती नहीं बन सके अत: उनकी देशना निष्फल गई।

१.७ बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. भगवान महावीर के माता-पिता का नाम क्या था?

२. भगवान महावीर का वर्धमान नाम क्यों पड़ा?

३. संगम देव ने भगवान महावीर को एक रात्रि में कितने कष्ट दिए?

४. भगवान महावीर ने साढ़े बारह वर्ष में कितनी नींद ली?

५. भगवान महावीर ने उत्कृष्ट कितने दिन का उपवास किया?

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. भगवान महावीर के जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालें?

२. भगवान महावीर की साधना का विवेचन करें?

३. सिद्ध करें कि भगवान अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष थे।

इकाई-२.२ गणधरवाद और निह्नव (The Ganadhara and Ninhavas)

इकाई की रूपरेखा

२.० उद्देश्य
२.१ प्रस्तावना
२.२ गणधरवाद
२.३ निह्नव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

२.४ बोध प्रश्न

२.० उद्देश्य

'गणधरवाद और निह्नव' इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

* गणधर किसे कहते हैं, इसे जान सकेंगे।
* ग्यारह गणधरों के संशय और महावीर द्वारा प्रदत्त उनके समाधान को समझ सकेंगे।
* निह्नव किसे कहते हैं, इसे जान सकेंगे।
* वे किस कारण से निह्नव बने, इससे भी परिचित हो सकेंगे।

२.१ प्रस्तावना

इस इकाई में भगवान महावीर के ग्यारह गणधर तथा सात निह्नव का विवेचन किया जा रहा है, जो गण का भार वहन करते हैं। संघ की व्यवस्था का संचालन करते हैं, वे गणधर कहलाते हैं। गणधर ही तीर्थंकर द्वारा अर्थ रूप में कहे गए प्रवचन को धारण कर सूत्र रूप में गुम्फित करते हैं। इन्द्रभूति, अग्निभूति आदि ग्यारह गणधर थे। उनके मन में एक-एक संशय था, जिसका समाधान भगवान महावीर ने किया। महावीर से अपनी शंकाओं का समाधान पाकर वे उनसे प्रभावित हुए और उनके पास दीक्षित हो गए।

किसी एक विषय में मतभेद होने के कारण जो साधु संघ से पृथक् हो गए किन्तु जिन्होंने अन्य धर्म को स्वीकार नहीं किया, वे निह्नव कहलाए। जैन धर्म में सात निह्नव हुए हैं। वे अलग-अलग कारणों से संघ से पृथक् हुए। उनमें से कुछ यथार्थ को समझकर पुन: संघ में सम्मिलित हो गए और कुछ अन्त तक निह्नव ही रहे।

२.२ गणधर (Pontiff)

केवलज्ञान प्राप्ति के बाद महावीर जंभियग्राम से विहार कर मध्यम पावा पधारे। पावा का प्रांगण उत्साह से भर गया। इस हलचल को देखकर कुछ लोगों ने सोचा, भगवान के आवागमन पर यह सब कुछ हो रहा है तो कुछ लोगों ने सोचा महाविद्वान सोमिल विप्र द्वारा आयोजित यज्ञ के कारण हो रहा है। उस यज्ञ की आयोजना में अनेक पंडित विद्यमान थे जिनमें इन्द्रभूति, अग्निभूति आदि प्रख्यात ग्यारह धुरंधर विद्वान भी विद्यमान थे।

भगवान महावीर के आगमन पर पावा में देवों ने समवसरण की रचना की। शहर से नर-नारियों के झुंड के झुंड वहां पहुंचने लगे। गगनमार्ग से देव-देवियों के समूह भी आने लगे। उन्हें देखकर पंडित बहुत खुश हुए कि ये देव और देवियाँ हमारे यज्ञ में आहुति लेने आ रहे हैं किन्तु कुछ ही क्षणों में वे यज्ञ-मण्डप से आगे निकल गये। जानकारी करने पर ज्ञात हुआ कि वे भगवान महावीर के समवसरण में जा रहे हैं। उन्होंने सोचा ये कोई पाखंडी, मायावी हैं। हमें चलकर इनका भण्डाफोड़ करना चाहिए। सबसे पहले इन्द्रभूति गौतम अपनी शिष्य मंडली के साथ समवसरण की दिशा में महावीर को पराजित करने हेतु रवाना हुए। इन्द्रभूति के लौटने में विलंब होने के कारण अग्निभूति आदि अन्य साथी भी क्रमश: वहां पहुंच गये और भगवान महावीर के मुख से अपनी शंकाओं का समाधान पाकर नतमस्तक हो गये। उनका अहं विगलित हो गया और उन्होंने अपने शिष्यों सहित भगवान के पास दीक्षा स्वीकार कर ली। इन सबकी दीक्षा के साथ ही तीर्थ का प्रवर्तन हुआ। ग्यारह विद्वान जैन मुनि ही गणधर पद से अलंकृत हुए।

२.२.१ गणधर (Pontiffs)

'गणं धारयति इति गणधर:' अर्थात् जो गण (संघ) का भार वहन करते हैं, वे गणधर कहलाते हैं। तीर्थंकर द्वारा अर्थ रूप में कहे गये प्रवचन को धारण कर उसकी सूत्र रूप में व्याख्या करने वाले गणधर होते हैं। भगवान महावीर के इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधर थे। भगवान महावीर के पास दीक्षित होने से पूर्व उन सबके मन में एक-एक संदेह था। जिसका उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति की एक गाथा में मिलता है –

जीवे कम्मे तज्जीवभूयतारिसयबंधमोक्खे य।
देवा णेरइया य पुण्णे परलोयणेव्वाणे ॥

इस गाथा में ग्यारह गणधरों के संशयों को क्रमश: इस प्रकार से बताया गया है –

गणधर का नाम		संशय
१. इन्द्रभूति	–	जीव है या नहीं ?
२. अग्निभूति	–	कर्म है या नहीं ?
३. वायुभूति	–	शरीर और जीव एक है या भिन्न ?
४. व्यक्त	–	पृथ्वी आदि भूत हैं या नहीं ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

५. सुधर्मा	–	यहां जो जैसा है वह परलोक में भी वैसा होता है या नहीं ?
६. मंडितपुत्र	–	बंध-मोक्ष है या नहीं ?
७. मौर्यपुत्र	–	देव है या नहीं ?
८. अकम्पित	–	नरक है या नहीं ?
९. अचलभ्राता	–	पुण्य-पाप है या नहीं ?
१०. मेतार्य	–	परलोक है या नहीं ?
११. प्रभास	–	निर्वाण है या नहीं ?

२.२.२ गणधर इन्द्रभूति गौतम (Pontiff Indrabhuti Gautam)

इन्द्रभूति गौतम जब अपने शिष्यों के साथ भगवान महावीर के समवसरण में पहुंचे। भगवान बोले – इन्द्रभूति गौतम ! तुम आ गए। भगवान के मुख से अपना नाम सुन उसे बहुत आश्चर्य हुआ फिर सोचा, मैं विद्वान पंडित हूँ। दुनियाँ में सभी मुझे जानते हैं। इन्होंने भी किसी से मेरा नाम सुन रखा होगा। दूसरे ही क्षण भगवान की ओर से आवाज आई – इन्द्रभूति ! क्या तुम्हें जीव के अस्तित्व के बारे में संदेह है ? यह सुनते ही गौतम कांप उठे और सोचा मेरे मन की बात इन्होंने कैसे जान ली ? लगता है ये सर्वज्ञ हैं और मेरी आज पराजय होने वाली है। गौतम ने कहा – हाँ, मेरे मन मे यह संदेह है, क्योंकि यदि जीव का अस्तित्व होता है, तो घट, पट आदि अन्य पदार्थों की तरह वह प्रत्यक्ष दिखाई देना चाहिए। पर वह दिखाई नहीं देता और न ही उसका अनुमान किया जा सकता है, अत: जीव के अस्तित्व के विषय में मुझे संदेह है। महावीर ने कहा – हे गौतम ! जीव के अस्तित्व के विषय में तुम्हारा संदेह उचित नहीं है। जीव की सत्ता शाश्वत है। वह स्व-पर (अपना और पदार्थ) का ज्ञाता है। जीव के अस्तित्व के विषय में तुम्हारा संशय है और जिस विषय में संशय होता है, वह विद्यमान होता है। जैसे – स्थाणु (ठूंठ) और पुरुष के विषय में संशय होता है, रस्सी और सर्प के विषय में संशय होता है और वे दोनों ही विद्यमान होते हैं, अत: जीव के विषय में संशय है तो उसे भी विद्यमान मानना चाहिए। इन्द्रभूति के संशय का समाधान हो गया और वे अपने शिष्यों के साथ महवीर के पास दीक्षित हो गए।

२.२.३ गणधर अग्निभूति (Pontiff Agnibhuti)

अग्निभूति इन्द्रभूति के मंझले भाई थे। इन्द्रभूति की दीक्षा की बात सुनकर वे भी अपने शिष्यों के साथ भगवान महावीर के समवसरण में पहुंचे। भगवान ने उसे भी नाम और गोत्र से संबोधित किया। ''अग्निभूति गौतम ! आओ।'' भगवान के मुख से अपना नाम सुन इन्द्रभूति की भांति उसे भी आश्चर्य हुआ। तभी भगवान ने कहा – अग्निभूति ! तुम्हारे मन में यह संदेह है कि कर्म है अथवा नहीं ? अग्निभूति ने कहा – हाँ, मेरे मन में यह संदेह है कि शुभाशुभ कर्म हैं या नहीं ? क्योंकि वे प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से जाने नहीं जाते, किन्तु वेदों में इस प्रकार के वाक्य भी उपलब्ध होते हैं, जिनसे कर्म का अस्तित्व मानना पड़ता है। जैसा कि **''पुण्य: पुण्येन कर्मणा, पाप: पापेन कर्मणा''** अर्थात् पुण्य कर्म से जीव पवित्र और पाप कर्म से जीव अपवित्र होता है।

महावीर ने कहा – अग्निभूति ! तुम्हारा यह संशय अनुचित है। शुभाशुभ कर्मों का अस्तित्व होता है। कर्म का फल अवश्य मिलता है। कर्म सूक्ष्म होने के कारण तुम उन्हें प्रत्यक्ष नहीं देख सकते पर मैं उन्हें प्रत्यक्ष देखता हूँ। तुम सुख-दु:ख की अनुभूति रूप कर्म के फल से उस कर्म का अनुमान कर सकते हो। अग्निभूति भी समाहित हो शिष्यों के साथ भगवान के पास दीक्षित हो गया।

२.२.४ गणधर वायुभूति (Pontiff Vayubhuti)

वायुभूति इन्द्रभूति का छोटा भाई था। उसके मन में यह संदेह था कि जीव और शरीर एक ही हैं या अलग-अलग हैं। महावीर ने उसके मन की बात भी जान ली और कहा – तुम्हें यह संदेह है कि भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है, पर चैतन्य भूत में दिखाई नहीं देता, अत: दोनों अभिन्न है। किन्तु वेद के **'न ह वै शरीरस्य'** वाक्य से ज्ञात होता है कि जीव शरीर से भिन्न है, अत: तुम्हें संशय है कि जीव शरीर से भिन्न है या अभिन्न। वायुभूति ने कहा – भगवन् ! आपने मेरा संशय ठीक बताया है पर अब उसका निराकरण भी करें।

महावीर – वायुभूति ! तुम्हारी यह शंका निराधार है। जड़ और चेतन दोनों की स्वतंत्र सत्ता है। पंच भूतों के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न नहीं होता। वह स्वतंत्र है। शरीर पंचभूतों से निर्मित होता है और भूत जड़ हैं। वे भी समाहित हो महावीर के पास दीक्षित हो गये।

२.२.५ गणधर व्यक्त (Pontiff Vyakta)

व्यक्त के समवसरण में पहुंचने पर भगवान ने उन्हें भी नाम लेकर संबोधित किया और कहा – व्यक्त ! तुम्हारे मन में यह संदेह है कि पंच भूत हैं या नहीं हैं ? क्योंकि वेद का एक वाक्य है कि **''स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरंजसा विज्ञेय:''** अर्थात् सम्पूर्ण जगत स्वप्न के समान है। संसार में भूतों जैसी कोई वस्तु नहीं है, किन्तु दूसरी ओर वेद में पृथ्वी देवता, आपो देवता इत्यादि वाक्य भी हैं, जिनसे पृथ्वी, जल आदि भूतों का अस्तित्व सिद्ध होता है, अत: तुम्हें संदेह है कि भूतों का अस्तित्व है या नहीं।

व्यक्त – भगवन् ! आपने बिल्कुल ठीक जाना है। अब इस संदेह का निराकरण भी करें। भगवान ने कहा – व्यक्त ! पांच भूतों की सत्ता शाश्वत है क्योंकि द्रव्य हमेशा वैसा ही रहता है परन्तु पर्याय दृष्टि से सभी द्रव्य बदलते रहते हैं। यदि संसार में भूतों का अस्तित्व ही न हो तो उसके विषय में आकाश-कुसुम और खर-शृंग के समान संशय ही उत्पन्न न हो। जो वस्तु विद्यमान होती है, उसी के विषय में संशय होता है। भूतों के विषय में संशय का होना उसकी सत्ता का द्योतक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। व्यक्त भी समाहित हो शिष्यों के साथ दीक्षित हो गया।

२.२.६ गणधर सुधर्मा (Pontiff Sudharma)

उन सबके दीक्षित होने का समाचार सुनकर सुधर्मा भी भगवान के पास आया। पहले की भांति महावीर ने उसे भी नाम से संबोधित कर पुकारा और कहा – तुम्हारे मन में यह संशय है कि क्या जीव इस लोक में जैसा है, परलोक में भी वैसा ही होगा ? तुम्हारे संशय का कारण वेद वाक्य है – **''पुरुषो मृत: सन् पुरुषत्वमेवाश्नुते, पशव: पशुत्वम्।''** अन्य स्थान पर कहा है – **'शृगालो वै एष जायते य: स पुरीषो दह्यते।'** पहले वाक्य का अर्थ तुम यह समझते हो कि जीव भवान्तर में भी सदृश ही रहता है अर्थात् पुरुष-पुरुष के रूप में रहता है और पशु-पशु के रूप में। दूसरे वाक्य में भवान्तर में वैसदृश्य की संभावना है। दोनों वाक्यों में परस्पर विरोध होने से तुम्हें संशय हुआ है, किन्तु तुम्हारा संशय ठीक नहीं है। भवान्तर में द्रव्य दृष्टि से आत्मा वही रहती है किन्तु पर्याय दृष्टि से परिवर्तन अवश्य होता है। यह कोई ऐकान्तिक नियम नहीं है कि कार्य हमेशा कारण के सदृश ही होता है। शृंग से भी शर नामक वनस्पति उत्पन्न होती ही है। अत: परलोक में पर्याय का परिवर्तन संभव है।

२.२.७ गणधर मण्डित (Pontiff Mandit)

मण्डित के मन के संशय को प्रकट करते हुए महावीर ने कहा – तुम्हारे मन में यह संशय है कि बंध और मोक्ष है या नहीं। मण्डित ने कहा – भगवन्! मेरे मन में यह संदेह है, आप इसका निराकरण करें। भगवान-मण्डित ! बंध और मोक्ष हैं और वे अनादि हैं। जैसे बीज से अंकुर तथा अंकुर से बीज होता है और यह क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है उसी तरह देह से कर्म और कर्म से देह का क्रम भी अनादि काल से चलता आ रहा है, अत: बंध अनादि है। इसी प्रकार एक बार जो जीव आठों कर्मों का क्षय (नाश) कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, वह पुन: संसार में जन्म नहीं लेता ऐसी मुक्त आत्मायें भी अनादि काल से सिद्ध लोक में हैं। काल के अनादित्व होने के कारण मोक्ष भी अनादि है।

२.२.८ गणधर मौर्यपुत्र (Pontiff Mauryaputra)

भगवान ने कहा – मौर्यपुत्र ! तुम्हारे मन में यह संदेह है कि देव है या नहीं है, किन्तु हे मौर्यपुत्र ! तुम्हें देवों की सत्ता के विषय में संदेह नहीं करना चाहिए। श्रुति-स्मृति के आधार पर नहीं अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण से भी तुम उसकी सत्ता जान सकते हो। मेरे इस समवसरण में मनुष्य से भिन्न जाति वाले भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये चार प्रकार के देव उपस्थित हैं। उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर अपने संशय का निवारण कर सकते हो।

२.२.९ गणधर अकम्पित (Pontiff Akampit)

भगवान ने कहा – अकम्पित ! तुम्हारे मन में यह संदेह है कि नरक है या नहीं है। **'न ह वै प्रेत्य नारका:'** यह वेद वाक्य तुम्हारे संदेह का कारण है। अकम्पित ने कहा – भगवन ! मेरी शंका का निवारण करें। भगवान ने कहा – अकम्पित ! नरक का अस्तित्व शाश्वत है। नरक का प्रत्यक्ष नहीं होता अत: तुम उसके अस्तित्व को नकारते हो, पर मैं केवलज्ञान के द्वारा उसके अस्तित्व को साक्षात् देखता हूँ। केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही ज्ञान का माध्यम नहीं है। अनेक वस्तुएँ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ज्ञेय हैं। वह भी समाहित हो दीक्षित हो गया।

२.२.१० गणधर अचलभ्राता (Pontiff Achalbhrata)

भगवान ने कहा – अचलभ्राता ! तुम्हारे मन में यह संदेह है कि पुण्य-पाप हैं या नहीं ? इसका समाधान यही है कि दोनों का अस्तित्व है। जीव किसी भी गति में जाए, कर्म उसके साथ जाता है। सुख रूप फल देने वाला पुण्य और पाप रूप फल देने वाला पाप ये दोनों स्वतंत्र हैं।

२.२.११ गणधर मेतार्य (Pontiff Metarya)

भगवान ने कहा – मेतार्य ! तुम्हें संशय है कि परलोक है या नहीं। आत्मा का पुनर्जन्म होता है या नही ! इसका समाधान यही है कि आत्मा का धर्म चैतन्य है। वह भूतों से उत्पन्न नहीं होता और न ही भूतों से निर्मित शरीर का नाश होने पर नष्ट होता है। आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। मृत्यु के पश्चात् उसका पुनर्जन्म, परलोक-गमन होता है।

२.२.१२ गणधर प्रभास (Pontiff Prabhas)

भगवान ने कहा – प्रभास ! तुम्हे यह संशय है कि निर्वाण है या नहीं है ? इसका समाधान यही है कि निर्वाण है, क्योंकि बंध है। सब कर्मों से छुटकारा पाना ही निर्वाण, मोक्ष है। बंधन अनादि है पर अनन्त नहीं है। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से बंधन को तोड़कर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार प्रभास भी अपनी शंका का समाधान प्राप्त कर महावीर के पास दीक्षित हो गया। इस प्रकार पहले प्रवचन में ही भगवान की शिष्य संपदा समृद्ध हो गई। उनके ४४०० शिष्य बने। भगवान ने इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान शिष्यों को गणधर-पद पर नियुक्त किया। व्यवस्था की दृष्टि से श्रमण-संघ को नौ गणों में विभक्त किया। पहले सात गणधर सात गणों के और आठवें-नौवें तथा दसवें-ग्यारहवें गणधर क्रमश: आठवें और नौवें गण के प्रमुख थे।

इन ग्यारह गणधरों मे इन्द्रभूति और सुधर्मा इन दोनों गणधरों को छोड़कर शेष नौ गणधरों का निर्वाण भगवान महावीर की उपस्थिति में ही हो गया था। महावीर के निर्वाण के समय प्रथम गणधर प्रतिबोध देने के लिए दूसरे गांव गए हुए थे। वहां भगवान के निर्वाण की सूचना जब उन्हें मिली तो वे महावीर के प्रति अनुराग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होने के कारण शोक से विह्वल हो गए। चिन्तन की धारा मुड़ी और उन्हें वहीं केवलज्ञान हो गया। ऐसा माना जाता है कि महावीर के प्रति अनुराग ही उनके केवलज्ञान की प्राप्ति में बाधक था। अत: अनुराग की धारा टूटते ही वे केवलज्ञानी बन गए।

दिगम्बर परम्परा का अभिमत है कि भगवान महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी इन्द्रभूति गौतम थे जबकि श्वेताम्बर परम्परा का अभिमत यह है कि केवली कभी किसी परम्परा का वाहक नहीं होता। गौतम केवलज्ञानी हो चुके थे अत: संघ के संचालन का भार गणधर सुधर्मा पर आया और वे महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी हुए। द्वितीय उत्तराधिकारी के रूप में जम्बूस्वामी का नाम प्राप्त होता है। जम्बूस्वामी अंतिम केवलज्ञानी थे। उनके बाद केवलज्ञान आदि दस बातों का लोप हो गया।

२.३ निह्नव (The Believers in Heresy)

विचार भेद के कारण जैन परम्परा – श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गई। विचारों में आमूलचूल परिवर्तन होने के कारण कुछ जैन साधु जैन शासन को छोड़कर अन्य शासन मे जाकर श्रमण बन गए। ऐसे श्रमणों को निह्नव की संज्ञा नहीं दी गई। निह्नव की संज्ञा उन साधुओं को दी गई जो चालू परम्परा के साथ किसी एक विषय में मतभेद हो जाने के कारण शासन से पृथक् हो गए, किन्तु किसी अन्य धर्म को स्वीकार नहीं किया। किसी एक विषय में मतभेद होने के कारण वे जैन शासन के निह्नव कहलाए।

इस प्रकार सात निह्नव हुए हैं। उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है –

२.३.१ जमाली और बहुरतवाद (Jamali and Bahuratvad)

जमाली पहला निह्नव था। यह भगवान महावीर का दामाद था। जमाली ने ५०० पुरुषों के साथ तथा उसकी पत्नी प्रियदर्शना ने १००० स्त्रियों के साथ भगवान के पास दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया।

एक बार जमाली भगवान से आज्ञा प्राप्त करके ५०० साधुओं के साथ श्रावस्ती नगरी चला गया। वहाँ तिंदुक उद्यान के कोष्ठक चैत्य में वह ठहरा हुआ था। साधु की कठोर चर्या और वैराग्यवृत्ति के कारण वह अरस-विरस, रूखा-सूखा आहार लेता था, जिससे उसका शरीर रोगाक्रान्त हो गया। वह बैठने मे भी समर्थ नहीं था। उसने श्रमणों से कहा – मेरा शय्या-संस्तारक (बिछौना) करो। उन्होंने बिछौना बिछाना शुरू किया। वेदना के कारण जमाली को एक-एक पल भारी लग रहा था। उसने अधीर होकर पूछा – मेरा बिछौना बिछा दिया या बिछा रहे हो? श्रमणों ने उत्तर दिया – देवानुप्रिय! आपका बिछौना बिछाया नहीं, बिछाया जा रहा है। दूसरी और तीसरी बार पूछने पर भी जब उसे यही उत्तर मिला, तो वेदना से अधीर बने जमाली की सैद्धान्तिक धारणा हिल उठी। उसके मन में शंका हो गई कि भगवान तो क्रियमाण को कृत, संस्तीर्यमाण को संस्तृत और चलमाण को चलित कहते हैं अर्थात् जो काम करना शुरू कर दिया वह हो गया। पर मैं देख रहा हूँ बिछौना बिछाना शुरू कर दिया, पर अभी बिछा नहीं है। अत: महावीर का क्रियमाण कृत का सिद्धान्त मिथ्या है। प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि बिछौना क्रियमाण है पर कृत नहीं है। इस प्रकार वेदना-विह्वल जमाली मिथ्यात्व के उदय से निह्नव बन गया। उससे बहुरतवाद की उत्पत्ति हुई। बहुरतवाद का तात्पर्य है कि जमाली की दृष्टि के प्रति अनेक जीव रत-आसक्त थे, इसलिए उसका मत बहुरतवाद कहलाया। अथवा एक कार्य की सिद्धि बहुत समय सापेक्ष होती है, इस मान्यता में रहे व्यक्ति बहुरतवादी कहलाए।

कुछ श्रमणों ने जमाली के कथन पर श्रद्धा की और कुछ ने श्रद्धा नहीं की। जिन्होंने श्रद्धा नहीं की, उन्होंने जमाली को समझाया कि जो कुछ महावीर ने कहा है, वह सत्य है। तुम जो कह रहे हो, वह मिथ्या है। जमाली के बात समझ में नहीं आई और मिथ्या आग्रह के कारण वह दूसरों को भी शंकित एवं भ्रमित करता रहा। अन्त समय में मिथ्या आग्रह की आलोचना नहीं की, प्रायश्चित्त नहीं किया और मरकर लान्तक देवलोक में किल्विषिक (निम्न श्रेणी वाला) देव बना।

२.३.२ तिष्यगुप्त और जीव-प्रादेशिकवाद (Tishyagupta and the theory of Jeeva-Pradeshikvada)

दूसरे निह्नव का नाम तिष्यगुप्त था। एक बार चतुर्दशपूर्वी आचार्य वसु अपने शिष्य तिष्यगुप्त को 'आत्मप्रवाद पूर्व' पढ़ा रहे थे। उसमें भगवान महावीर और गौतम का संवाद आया –

गौतम – 'भगवन्! क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कहा जा सकता है?

भगवान – नहीं।

गौतम – भगवन्! क्या जीव के दो, तीन, चार यावत् संख्येय प्रदेश को जीव कहा जा सकता है?

भगवान – नहीं। असंख्येय प्रदेश में एक प्रदेश यदि कम हो, तो उसे भी जीव नहीं कहा जा सकता। प्रतिपूर्ण असंख्येय प्रदेशात्मक जीव को ही जीव कहा जा सकता है।

यह सुन तिष्यगुप्त ने यह निष्कर्ष निकाला कि अंतिम प्रदेश के बिना शेष प्रदेश जीव नहीं है, अत: अंतिम प्रदेश ही जीव है। आचार्य ने समझाया कि जैसे एक तन्तु को पट नहीं कहा जा सकता, सारे तंतु मिलकर पट कहलाते हैं। वैसे ही एक प्रदेश जीव नहीं अपितु सारे प्रदेश मिलकर जीव कहलाते हैं। गुरु के समझाने पर भी उसने अपना आग्रह नहीं छोड़ा, तब उन्हें संघ से पृथक् कर दिया गया। जीव-प्रदेश के विषय में संदेह और आग्रह होने के कारण ये जीव-प्रादेशिक कहलाए।

एक बार मित्रश्री नामक श्रमणोपासक ने तिष्यगुप्त को संबोध देने हेतु अपने घर भोजन के लिए आमंत्रित किया। तिष्यगुप्त वहां गया। मित्रश्री ने विविध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

खाद्य पदार्थों का एक-एक छोटा खंड उसके सामने रखा। जैसे – चावल का एक दाना, सूप की दो चार बूंद, वस्त्र का एक छोटा टुकड़ा आदि। मित्रश्री ने फिर अपने स्वजनों से कहा – वंदना करो ! आज हम दान देकर धन्य हो गए हैं। यह सुनकर तिष्यगुप्त बोला – तुमने मेरा तिरस्कार किया है। मित्रश्री बोला – मैंने तिरस्कार नहीं किया है। यह तो आपका ही सिद्धान्त है कि अन्तिम अवयव ही वास्तविक होता है। मैंने तो आपके सिद्धान्त का पालन किया है। यदि यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, तो मैं आपको भगवान महावीर के सिद्धान्तानुसार प्रतिलाभित करूं। इस घटना से तिष्यगुप्त प्रतिबुद्ध हो गया और पूर्व दोषों की आलोचना-प्रतिक्रमण करके पुन: महावीर शासन में सम्मिलित हो गया।

२.३.३ आचार्य आषाढ़ के शिष्य और अव्यक्तवाद (Acharya Ashadha and the Theory of the Indescribable)

एक बार आचार्य आषाढ़ अपने शिष्यों को वाचना दे रहे थे। योग-साधना का अभ्यास चल रहा था। अचानक विसूचिका रोग से ग्रस्त होने के कारण उनका स्वर्गवास हो गया। मरकर वे देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ उन्होंने अवधिज्ञान से अपने पूर्वजन्म को देखा और सोचा – शिष्यों का अभ्यास अधूरा रह जायेगा। अत: वे पुन: दिव्य शक्ति से अपने मृत शरीर मे प्रविष्ट हो गए। शिष्यों को इसकी जानकारी नहीं थी। देव प्रभाव से अध्ययन का क्रम शीघ्र ही पूरा हो गया। जब शिष्य उस अध्ययन में पूर्ण निष्णात हो गए, तब आचार्य देवरूप में प्रकट होकर बोले – श्रमणो ! मुझे क्षमा करना। मैं असंयत होकर भी तुम साधुओं से वंदना करवाता रहा। मैं तो अमुक दिन ही काल-कवलित हो गया था। इस प्रकार क्षमायाचना कर देव चला गया। शिष्यों ने मृतशरीर का विसर्जन कर सोचा – हमने इतने दिन संयत होकर भी असंयत की वंदना की। यहां सब अव्यक्त है। कौन जाने कौन साधु है और कौन देव ? कोई वंदनीय नहीं है, क्योंकि यदि वंदना करते हैं तो असंयमी को भी वंदना हो सकती है। अत: अमुक संयमी है यह कहना मिथ्या है। बहुत समझाने पर भी शिष्यों ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। तब स्थविर मुनियों ने उन्हें संघ से पृथक् कर दिया। सब कुछ अव्यक्त मानने के कारण इनका वाद अव्यक्तवाद कहलाया। कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं कि आषाढ़ के कारण यह विचार चला, इसलिए इसके प्रवर्तक आचार्य आषाढ़ हैं। पर वास्तव में इसके प्रवर्तक आषाढ़ के शिष्य ही होने चाहिए। ये तीसरे निह्नव हुए।

एक बार विहार करते हुए ये राजगृही नगरी में आये। राजा बलभद्र ने उनको पकड़वा लिया। संतों ने कहा – हम तपस्वी हैं, चोर नहीं। राजा ने कहा – कौन जानता है कि साधु वेश में कौन साधु है और कौन चोर। संत बोले – ज्ञान और चर्या के आधार पर साधु और असाधु की पहचान होती है। राजा ने प्रत्युत्तर दिया – जब आपको भी कौन संयत है और कौन असंयत है यह ज्ञात नहीं होता तो मुझे आपके ज्ञान और चर्या में कैसे विश्वास होगा। आप अव्यक्त हैं अत: मैं कैसे जानूं कि आप साधु हैं या चोर। अत: सब कुछ अव्यक्त है, इस संदेह को छोड़कर आप व्यवहार नय को स्वीकार करें। इस प्रकार युक्ति से राजा ने उन्हें संबोध दिया। संबुद्ध होकर वे पुन: गुरु के पास आये और प्रायश्चित्त लेकर संघ मे सम्मिलित हो गए।

२.३.४ अश्वमित्र और सामुच्छेदिकवाद (Ashwamitra and the Theory of Total Destruction)

एक बार अश्वमित्र अपने आचार्य कौण्डिल के पास पूर्व-ज्ञान पढ़ रहे थे। उस समय पर्यायवाद का प्रकरण चल रहा था। उत्पत्ति के अनन्तर ही वस्तु नष्ट हो जाती है। अत: प्रथम समय के नारक विच्छिन्न हो जायेंगे, दूसरे समय के नारक भी विच्छिन्न हो जायेंगे, इस प्रकार सभी जीव विच्छिन्न हो जायेंगे। पर्यायवाद के इस प्रकरण को सुनकर कि उत्पत्ति के अनन्तर ही वस्तु विनष्ट हो जाती है, उच्छेदवाद में उनकी आस्था जम गई। गुरु ने बहुत समझाया – यह बात ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से है। सब नयों की अपेक्षा से नहीं है। गुरु के समझाने पर भी गुरु के कथन को स्वीकार नहीं किया। निह्नव समझकर गुरु ने उन्हें संघ से पृथक् कर दिया।

एक बार वे विहार करते हुए राजगृही नगरी में पहुंचे। वहां के खंडरक्ष आरक्षक श्रावक थे। उन्होंने अश्वमित्र को उसके शिष्यों के साथ पकड़ लिया और पीटने लगे। अश्वमित्र ने कहा – तुम श्रावक होकर श्रमणों को इस तरह क्यों पीट रहे हो ? तब उसने कहा – जो दीक्षित हुए थे, वे तो विच्छिन्न हो गए। तुम चोर हो या गुप्तचर हो कौन जानें ? आपको कौन मार रहा है, आप तो स्वयं विनष्ट हो रहे हैं। इस प्रकार भय और युक्ति से समझाने पर वे संबुद्ध हो गए और गुरु के पास जाकर प्रायश्चित्त लेकर पुन: संघ में प्रविष्ट हो गए।

२.३.५ आचार्य गंग और द्वैक्रियवाद (Acharya Gang and the Theory of Bi-actionism)

आचार्य गंग आचार्य महागिरी के शिष्य धनगुप्त के शिष्य थे। एक बार आचार्य गंग शरदकाल में अपने आचार्य को वंदना करने उल्लुका नदी को पारकर जा रहे थे। वे नदी में उतरे तो सिर गंजा होने के कारण सूरज से सिर तप रहा था और नीचे से पानी शीतल लग रहा था। उनको संदेह हुआ कि सूत्र में कहा है कि एक समय में एक क्रिया का अनुभव होता है पर मुझे तो एक साथ दो क्रियाओं (गर्मी और शीतलता) का अनुभव हो रहा है। वे गुरु के पास पहुंचे और अपना अनुभव सुनाया। गुरु ने कहा – वास्तव में एक समय में एक क्रिया का ही अनुभव होता है। समय बहुत सूक्ष्म है अत: हमें उसकी पृथक्ता का अनुभव नहीं होता। गुरु की बात उसकी समझ में नहीं आई, तब उनको संघ से पृथक् कर दिया गया।

एक बार आचार्य गंग विहरण करते हुए राजगृह नगर में आए। वहां मणिनाग नामक नागदेव का चैत्य था। वहां परिषद के सम्मुख भी गंग ने एक समय में दो क्रियाओं के वेदन की बात कही। मणिनाग नागदेव ने परिषद के मध्य प्रकट होकर कहा – तुम यह मिथ्या प्ररूपणा मत करो। मैंने भगवान के मुख से सुना है कि एक समय मे एक ही क्रिया का संवेदन होता है। तुम अपने मिथ्यावाद को छोड़ो। इससे तुम्हारा ही अहित होगा। आचार्य गंग प्रबुद्ध हुए और गुरु के पास आकर प्रायश्चित्त पूर्वक संघ मे सम्मिलित हुए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

२.३.६ रोहगुप्त और त्रैराशिकवाद (Rohgupta and the Theory of Three Basic Entities)

रोहगुप्त आचार्य श्रीगुप्त का शिष्य था। एक दिन वह आचार्य को वंदना करने जा रहा था। वहां एक परिव्राजक रहता था, जिसका नाम पोट्टशाल था। वह अपनी विद्याओं का प्रदर्शन कर लोगों को अचाम्भेत कर रहा था और दूसरे सभी धार्मिकों को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दे रहा था। रोहगुप्त ने उसकी चुनौती को स्वीकार किया और सारी बात अपने आचार्य को बताई। आचार्य ने कहा – वह वृश्चिक, सर्प आदि सात विद्याओं में निष्णात है। मैं तुझे इन विद्याओं की प्रतिपक्षी मायूरी, नाकुली आदि सात विद्याएँ सिखा देता हूँ – जिससे तुम अजेय बन जाओगे। रोहगुप्त इन विद्याओं को ग्रहण कर सभा में आया और पोट्टशाल को वाद के लिए आमंत्रित किया। पोट्टशाल ने सोचा, इसे इसी के सिद्धान्त से पराजित करना चाहिए अत: उसने दो राशियों (जीव राशि और अजीव राशि) की स्थापना की। रोहगुप्त ने छिपकली की कटी पूंछ का उदाहरण देकर तीसरी राशि (नो जीव – नो अजीव राशि) की स्थापना की। वह निरुत्तर हो गया। उसने रुष्ट होकर अनेक विद्याओं का प्रयोग किया तो रोहगुप्त ने उसे प्रतिपक्षी विद्याओं से परास्त कर दिया।

विजयी होकर रोहगुप्त अपने आचार्य के पास आया और तब गुरु ने कहा – तुमने तीसरी राशि की प्ररूपणा कर तीर्थंकरों की आशातना की है, अत: तुम पुन: परिषद में जाकर कहो कि यह त्रिराशि का हमारा सिद्धान्त नहीं है किन्तु मैंने इसे बुद्धि से पराभूत किया है। गुरु के समझाने पर भी अपमान के भय से वह वहां नहीं गया। तब आचार्य ने सोचा – गलत मत के प्रचार से यह स्वयं नष्ट होकर दूसरों को भी नष्ट करेगा। अत: इसे प्रतिबोध देना चाहिए। वे उसे लेकर 'कुत्रिकापण' पहुंचे। (कुत्रिकापण एक ऐसी दुकान को कहते हैं जहां सभी वस्तुएँ मिलती हैं।) वहां जीव मांगा वह मिल गया, अजीव मांगा वह भी मिल गया। नो जीव नो अजीव मांगने पर अधिकारी देव ने कहा – यहाँ जीव और अजीव दो ही पदार्थ हैं, तीसरी श्रेणी का कोई भी पदार्थ पूरे विश्व में नहीं है। इस प्रकार आचार्य ने रोहगुप्त को पराजित किया। रोहगुप्त का आग्रह कम न होने के कारण उसे संघ से पृथक् कर दिया गया। त्रिराशि की स्थापना करने के कारण इनका मत त्रैराशिकवाद कहलाया।

२.३.७ गोष्ठामाहिल और अबद्धिकवाद (Gosthamahil and the Theory fo Non-Bounding)

सातवें निह्नव गोष्ठामाहिल थे। आर्यरक्षित के उत्तराधिकारी दुर्बलिका पुष्यमित्र हुए। एक दिन विन्ध्य नामक मुनि को कर्म-प्रवाद के आधार पर कर्म का विवेचन करते हुए कर्म और जीव का संबंध कैसे होता है, इस पर प्रकाश डाल रहे थे। उसमें कर्म के दो रूपों का वर्णन आया। उन्होंने बताया, एक कर्म तो ऐसे होते हैं जो गीली दीवार पर मिट्टी की भांति आत्मा के साथ चिपक जाते हैं और दूसरे कर्म सूखी दीवार पर मिट्टी की भांति आत्मा का स्पर्श कर नीचे गिर जाते हैं।

गोष्ठामाहिल ने यह सुना। वे आचार्य से कहने लगे – आत्मा और कर्म यदि एकरूप हो जाते हैं तो फिर वे कभी भी अलग-अलग नहीं हो सकते अत: कर्म आत्म-प्रदेशों का स्पर्श मात्र करते हैं, बद्ध नहीं होते। आत्मा के साथ एकीभूत नहीं होते। आचार्य ने दोनों दशाओं का विवेचन किया पर उन्होंने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। आखिर उन्हें संघ से पृथक् कर दिया गया। आत्मा के साथ कर्म बद्ध नहीं होते, ऐसा मानने के कारण इनका मत अबद्धिकवाद कहलाया।

इन सात निह्नवों में जमाली, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल – ये तीन अन्त तक अलग रहे, भगवान के शासन में पुन: सम्मिलित नहीं हुए। शेष चार निह्नव प्रायश्चित्त लेकर पुनः शासन में आ गए।

स्थानांग में सात निह्नवों का ही उल्लेख मिलता है। जिनभद्रगणी आठवें निह्नव बोटिक का उल्लेख भी करते हैं, जो वस्त्र त्यागकर संघ से पृथक् हुए थे। इन सात निह्नवों में से दो (जमाली और तिष्यगुप्त) भगवान महावीर की कैवल्य-प्राप्ति के बाद और शेष पांच निर्वाण के बाद हुए। इन सब निह्नवों का अस्तित्व काल भगवान महावीर की कैवल्य-प्राप्ति के चौदह वर्ष से निर्वाण के बाद ६०९ वर्ष तक रहा।

आचार्य	मत-स्थापना	उत्पत्ति स्थान	कालमान
जमाली	बहुरतवाद	श्रावस्ती	कैवल्य के १४ वर्ष पश्चात्
तिष्यगुप्त	जीव प्रादेशिकवाद	ऋषभपुर	कैवल्य के १६ वर्ष पश्चात्
आषाढ़-शिष्य	अव्यक्तवाद	श्वेतविका	निर्वाण के ११४ वर्ष पश्चात्
अश्वमित्र	सामुच्छेदिकवाद	मिथिला	निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात्
गंग	द्वैक्रियवाद	उल्लुकातीर	निर्वाण के २२८ वर्ष पश्चात्
रोहगुप्त	त्रैराशिकवाद	अंतरंजिका	निर्वाण के ५५४ वर्ष पश्चात्
गोष्ठामाहिल	अबद्धिकवाद	दशपुर	निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात्

२.४ बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. गणधर किसे कहते हैं?

२. गणधर इन्द्रभूति के मन में क्या संदेह था?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

३. निह्नव किसे कहते हैं ?

४. आचार्य गंग किस कारण से निह्नव बने ?

५. जमाली का महवीर से क्या संबंध था ?

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. गणधर किसे कहते हैं ? उनकी शंकाओं का समाधान महावीर ने कैसे किया ?

२. निह्नव किसे कहते हैं ? विसतार से विवेचन करें ?

इकाई-२.३ भगवान महावीर के समकालीन सम्प्रदाय और जैन धर्म के मुख्य सम्प्रदाय
(Lord Mahaveera's Contemporary Religious Sects and Main Sect of Jain Religion)

इकाई की रूपरेखा

३.० उद्देश्य

३.१ प्रस्तावना

३.२ भगवान महावीर के समकालीन सम्प्रदाय

- **३.२.१ क्रियावाद**
- **३.२.२ अक्रियावाद**
- **३.२.३ अज्ञानवाद**
- **३.२.४ विनयवाद**

३.३ जैन धर्म के मुख्य सम्प्रदाय

- **३.३.१ श्वेताम्बर सम्प्रदाय**
- **३.३.२ दिगम्बर सम्प्रदाय**

३.४ बोध प्रश्न

३.० उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

* भगवान महावीर के समय प्रचलित अनेक धर्म-सम्प्रदायों को जान सकेंगे।
* जैन धर्म के मुख्य सम्प्रदायों को समझ सकेंगे।

३.१ प्रस्तावना

इस इकाई में यह बताने का प्रयास किया जा रहा है कि भगवान महावीर के समय तीन सौ तिरेसठ धर्म-सम्प्रदाय थे। जिन्हें चार वर्गों में समाहित किया गया था – क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, विनयवाद। इसके अतिरिक्त नियतिवाद, उच्छेदवाद, अन्योन्यवाद, विक्षेपवाद आदि भी प्रसिद्ध सम्प्रदाय थे। धीरे-धीरे ये सभी समाप्त होते गए। इस प्रकार वर्तमान में उस समय प्रचलित सम्प्रदायों में से जैन धर्म और बौद्ध धर्म का ही अस्तित्व है।

भगवान महावीर के समय और उसके बाद में भी काफी समय तक जैन शासन में एक आचार्य का नेतृत्व था। किंवदन्ती के अनुसार वीर-निर्वाण ६०९ वर्ष बाद विचारों में मतभेद होने के कारण जैन धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया – श्वेताम्बर और दिगम्बर। धीरे-धीरे ये दोनों शाखाएँ भी अनेक उपशाखाओं में विभक्त हो गई। जिनका संक्षिप्त विवेचन इस इकाई में किया जा रहा है।

३.२ भगवान महावीर के समकालीन धर्म सम्प्रदाय
(Lord Mahaveera's Contemporary Religious Sects)

भारतीय धर्म की दो धाराएँ बहुत प्राचीन हैं – श्रमण और वैदिक। श्रमण धारा का विकास आर्य-पूर्व जातियों और क्षत्रियों ने किया। वैदिक धारा का विकास ब्राह्मणों ने किया। दोनों मुख्य धाराओं की अनेक उपधाराएँ हो गई। भगवान महावीर के युग में तीन सौ तिरेसठ धर्म-सम्प्रदाय थे, यह उल्लेख जैन लेखकों ने किया है। बौद्ध लेखक बासठ धर्म-सम्प्रदायों का उल्लेख करते हैं। जैन आगमों में सभी धर्म सम्प्रदायों का चार वर्गों में समाहार किया गया है – १. क्रियावाद, २. अक्रियावाद,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

३. अज्ञानवाद, ४. विनयवाद।

३.२.१ क्रियावाद (Actionism)

क्रियावाद और अक्रियावाद का चिन्तन आत्मा को केन्द्र में रखकर किया गया है। क्रियावादी आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार आत्मा अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। आत्म द्रव्य का कभी नाश नहीं होता। उसकी पर्याय बदलती रहती है। आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता और कर्म-फल का भोक्ता है। अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा मिलता है।

क्रियावाद में उन सभी धर्मवादों को सम्मिलित किया गया है, जो आत्मा का अस्तित्व मानने पर भी उसके स्वरूप के विषय में एकमत नहीं हैं। कुछ आत्मा को अणुरूप मानते हैं तो कुछ विभु (सर्वव्यापी) मानते हैं। कुछ आत्मा को नित्य मानते हैं तो कुछ अनित्य मानते हैं। जैन दर्शन में आत्मा को देह परिमाण और परिणामीनित्य (नित्यानित्य) माना गया है। मरीचि कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, माठर आदि क्रियावादी आचार्य थे। इस प्रकार क्रियावादियों की धर्मनिष्ठा आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मवाद पर टिकी हुई थी।

३.२.२ अक्रियावाद (Non-actionism)

अक्रियावादियों की नैतिक निष्ठा वर्तमान की उपयोगिता पर टिकी हुई थी। अक्रियावादी आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म मोक्ष आदि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। उनके अनुसार अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे कर्म का बुरा फल मिलता है, यह मानना उचित नहीं। वर्तमान के सुख को छोड़कर परलोक मे सुख प्राप्त करने की चिन्ता करना मूर्खता है। ''खाओ, पीओ और मौज करो'' यही जीवन का लक्ष्य है। अक्रियावादियों के अनुसार –

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

जब तक जीओ, सुख से जीओ। पास में पैसा नहीं है तो ऋण लेकर भी घी पीओ क्योंकि शरीर के भस्मीभूत होने पर फिर इसका पुनर्जन्म नहीं होता है। यह शरीर पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि पंचभूतों से निर्मित होता है और उसी में विलीन हो जाता है। आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व नहीं होता। सुख-दुःख का कर्त्ता भी आत्मा नहीं होता। कौशिक, रोमश, हारित आदि चौरासी अक्रियावादी दार्शनिक हुए हैं। आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि में विश्वास न करने के कारण ये अक्रियावादी कहलाए।

३.२.३ अज्ञानवाद (Ignorantism)

अज्ञानवादी दुःखों का मूल कारण ज्ञान को मानते थे। इनके अनुसार सब समस्याओं का मूल है – ज्ञान। संसार में सत्य-असत्य का निर्णय कर पाना कठिन है। सभी अपनी-अपनी मान्यता को सत्य बतलाते हैं, पर यथार्थ को जान पाना दुष्कर है, इसलिए ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

ज्ञान से उन्माद, वाद-विवाद, संघर्ष, अहंकार, कषाय आदि पैदा होते हैं। अज्ञान से ये सब पैदा नहीं होते। अतः मोक्ष-प्राप्ति के लिए अज्ञान ही श्रेष्ठ है। अज्ञानी मनुष्य जितना सुखी होता है, उतना ज्ञानी नहीं होता। साकल्य, वाष्कल, नारायण, काठ, बादरायण आदि सड़सठ अज्ञानवादी आचार्य हुए हैं। जिन्होंने ज्ञान का खण्डन कर अज्ञान को ही श्रेष्ठ प्रमाणित किया है।

३.२.४ विनयवाद (Modesty)

विनयवाद का मूल आधार विनय है। ये अहं विसर्जन को सर्वोपरि मूल्य देते हैं। इनकी दृष्टि मे अहंकार सब दुःखों का कारण है। जहां ज्ञानवादी ज्ञान से सिद्धि मानते थे और आचारवादी आचार से सिद्धि मानते थे। वहीं जैन धर्म ज्ञान और क्रिया के समन्वय पर बल देता है। केवल ज्ञान या केवल आचार मोक्ष का उपाय नहीं हो सकता। जैन धर्म को विनयमूलक धर्म बताया गया है। पर ध्यातव्य है कि यहाँ आचार के अर्थ में विनय शब्द का प्रयोग हुआ है। विनम्रता आचार का एक अंग है, सम्पूर्ण आचार नहीं। वशिष्ठ, पाराशर, वाल्मिकी, व्यास आदि बत्तीस विनयवादी आचार्य हुए हैं। विनय को ही सर्वोपरि मूल्य देने के कारण ये विनयवादी कहलाए।

भगवान महावीर ने चारों वादों की समीक्षा कर क्रियावाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया। उनका यह स्वीकार एकांगी दृष्टिकोण से नहीं था। इसलिए उनके दर्शन को सापेक्ष-क्रियावाद की संज्ञा दी जा सकती है।

भगवान महावीर के अस्तित्व काल में श्रमणों के चालीस से अधिक सम्प्रदाय थे। उनमें पांच शासन बहुत प्रभावशाली थे।

१. निर्ग्रन्थ – महावीर का शासन।

२. शाक्य – बुद्ध का शासन।

३. आजीवक – मंखली गोशालक का शासन।

४. गैरिक – तापस शासन।

५. परिव्राजक – सांख्य शासन।

बौद्ध साहित्य में छह श्रमण सम्प्रदायों, उनके आचार्यों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख भी मिलता है। जो इस प्रकार है –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

३.२.५ अक्रियावाद (No Result of any Action)

इसके प्रवर्तक आचार्य पूरणकाश्यप थे। इनका सिद्धान्त था कि कोई भी क्रिया की जाये, चाहे हिंसा की जाये या असत्य भाषण किया जाये, चाहे दान दिया जाये या यज्ञ किया जाये, उसमें न पाप होता है, न पुण्य होता है। कोई क्रिया सम्यक् या मिथ्या नहीं होती। क्रिया करना जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। उससे कोई कर्म बन्ध नहीं होता। किसी भी क्रिया का फल न मिलने के कारण इसे अक्रियावाद कहा जाता है।

३.२.६ नियतिवाद (The Theory of Destiny)

इस संघ के आचार्य मंखली गोशालक थे। ये क्रियावाद और अक्रियावाद दोनों में विश्वास नहीं करते थे। उनका सिद्धान्त था कि प्राणी की शुद्धि और अशुद्धि का कोई कारण नहीं होता। कारण के बिना ही वे शुद्ध और अशुद्ध होते हैं। सारी घटनायें पहले से ही नियत होती हैं। उसमें परिवर्तन कर पाना संभव नहीं है। जिस प्रकार सूत का गोला गिरने पर खुलता जाता है और सूत बाहर आता जाता है उसी प्रकार कालरूपी गोला खुलता जाता है और पूर्व नियत घटनाएँ घटित होती रहती हैं। व्यक्ति के बल, सामर्थ्य और पुरुषार्थ का कोई महत्त्व नहीं होता । सब कुछ पहले से नियत मानने के कारण इनके मत को नियतिवाद कहा जाता है।

३.२.७ उच्छेदवाद (Doctrine of Annihilation)

इस संघ का प्रमुख अतिजकेशकंबली था। केशों का बना कम्बल धारण करने के कारण ही ये केशकम्बली कहलाते थे। इनका सिद्धान्त था – दान, यज्ञ और हवन में कोई सार नहीं है। बुरे और अच्छे कर्मों का फल भी नहीं मिलता है। इहलोक, परलोक, स्वर्ग, नरक आदि कुछ भी नहीं है। मनुष्य पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार धातुओं से मिलकर बनता है और मरने पर इन्हीं में विलीन हो जाता है। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। 'सबका उच्छेद हो जाता है।' इस मत को मानने के कारण इनका मत उच्छेदवाद के नाम से जाना जाता है।

३.२.८ अन्योन्यवाद (Anyonyavada)

इस संघ के प्रवर्तक पकुधकात्यायन थे। इनका सिद्धान्त था कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख तथा जीव ये सात पदार्थ किसी के द्वारा बनाये गये नहीं हैं, नित्य हैं। वे एक-दूसरे को सुख दुःख नहीं देते। एक-दूसरे पर प्रभाव नहीं डालते। इन्हें कोई नष्ट नहीं कर सकता। इन सात पदार्थों में मारने वाला, मार खाने वाला, सुनने वाला, कहने वाला कोई नहीं है। जो तेज शस्त्रों से किसी के सिर को कटवाता है, वह उसका खून नहीं करता अपितु इन सात पदार्थों में जो रिक्त स्थान है, उनमें प्रवेश करता है। पकुधकात्यायन के इस मत को अन्योन्यवाद कहते हैं।

३.२.९ विक्षेपवाद (The Theory of Deffection)

इस संघ के आचार्य संजयवेलट्ठिपुत्र थे। उसके अनुसार परलोक है यह मैं नहीं मानता और परलोक नहीं है यह भी मैं नहीं मानता। अच्छे बुरे कर्मों का फल मिलता है, यह मैं नहीं मानता और नहीं मिलता यह भी मैं नहीं मानता। तथागत मृत्यु के बाद रहता हैं, यह मैं नहीं मानता और नहीं रहता, यह भी मैं नहीं मानता। उनके इस-वाद को ही विक्षेपवाद कहा जाता है।

३.२.१० चातुर्याम संवरवाद (The Theory of Four-fold Restaint)

इस संघ के आचार्य निग्गंथ नातपुत्र (भगवान महावीर) थे।

इस प्रकार भगवान महावीर के काल में छह तैर्थिक थे। वे अपने आपको जिन, तीर्थंकर या अर्हत कहते थे। इनमें से प्रत्येक के अनुयायियों की संख्या हजारों में थी, किन्तु उनके सम्प्रदाय अधिक दिनों तक नहीं चल पाये प्राय: इनके साथ ही वे समाप्त हो गये। केवल मंखलि गोशालक द्वारा प्रचारित आजीवक सम्प्रदाय तथा बुद्ध द्वारा स्थापित बौद्ध धर्म ही उनके बाद जीवित रह पाये। आजीवक सम्प्रदाय भी कुछ शताब्दियों तक चला। धीरे-धीरे वह भी क्षीण होता गया और अन्त में जैन धर्म में ही विलीन हो गया। इस प्रकार उस समय प्रचलित सम्प्रदायों में केवल बौद्ध धर्म ही जैन धर्म के साथ-साथ जीवित रह सका।

३.३ सम्प्रदाय-भेद (Deferences in Sects)

वर्तमान जैन शासन की परम्परा भगवान महावीर से संबंधित है। भगवान महावीर इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर थे। महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी बने – गणधर सुधर्मा। उसके बाद आचार्य जम्बू, आचार्य प्रभव आदि के नाम आते हैं। यद्यपि विचार का इतिहास जितना पुराना है, विचार-भेद का इतिहास भी उतना ही पुराना है। भगवान महावीर की उपस्थिति में विचारभेद नहीं था – यह नहीं कहा जा सकता किन्तु विचार भेद होने पर भी उनका तत्त्व निरूपण सबको मान्य था क्योंकि उनकी वाणी में कहीं विसंवाद नहीं था। उनके युग में भी कुछ साधु वस्त्र पहनते थे, कुछ नहीं पहनते थे, पर इस भेद का कोई महत्त्व नहीं था।

उसके बाद भी जैन शासन में जब तक एक नेतृत्व करने वाले सक्षम और महान आचार्य थे, तब तक जैन शासन में एकत्व बना रहा। आगे चलकर वस्त्र पहनने और न पहनने के आधार पर जैन शासन का विभाजन हो गया। सबसे पहले वह दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ – श्वेताम्बर और दिगम्बर। जो साधु सफेद वस्त्र धारण करते थे उनका सम्प्रदाय श्वेताम्बर कहलाया और जो साधु वस्त्र नहीं पहनते थे, उनका सम्प्रदाय दिगम्बर कहलाया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

श्वेताम्बर से दिगम्बर शाखा निकली है या दिगम्बर से श्वेताम्बर शाखा निकली है, कहा नहीं जा सकता। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने को मूल और दूसरे को अपनी शाखा बताता है। किन्तु किंवदन्ती के अनुसार वीर-निर्वाण ६०९ वर्ष के पश्चात् दिगम्बर सम्प्रदाय का जन्म हुआ, यह श्वेताम्बर मानते हैं और दिगम्बर मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण ६०६ में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ।

३.४ दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में मौलिक भेद
(The Basic Difference Between the Two Sects : Digambar and Shwetambar)

दोनों सम्प्रदायों में दार्शनिक सिद्धान्त सम्बन्धी मतभेद इतना नहीं है, जितना नैतिक सिद्धान्त सम्बन्धी मतभेद है। उनमें प्रधानत: कुछ बातों में मतभेद पाया जाता है–

१. श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि जिस प्रकार पुरुष को मोक्ष का अधिकार है, उसी प्रकार स्त्री भी मोक्ष की अधिकारी है। १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ स्वयं स्त्री थीं। दिगम्बर सम्प्रदाय में स्त्री की मुक्ति को स्वीकार नहीं किया गया। स्त्री को मोक्ष की अधिकारिणी नहीं माना गया।

२. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार केवली भगवान भी कवल आहार करते हैं। क्षुधा, पिपासा आदि ग्यारह परीषह केवली के भी होते हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार केवली के भूख-प्यासादि की वेदना नहीं होती। वे बिना भोजन के जीवन निर्वाह करते हैं।

३. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यदि साधु-संयम में सहयोगी आवश्यक उपकरणों (वस्त्र, पात्र आदि) को रखता है तो भी वह मोक्ष का अधिकारी हो सकता है पर दिगम्बर परम्परा के अनुसार वस्त्र, पात्र आदि धारण करने वाला साधु मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता।

४. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर का विवाह हुआ था। वे सहज विरक्त थे। विवाह करने की इच्छा नहीं थी। पर माता-पिता के आग्रह से उन्होंने विवाह किया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे।

५. श्वेताम्बर आचारांग, सूत्रकृतांग आदि मूल द्वादशांगी को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि बारह अंगों में से अंतिम अंग दृष्टिवाद आज उपलब्ध नहीं है, पर शेष आगम आज भी उपलब्ध हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार काल के दुष्प्रभाव में सारे ही आगम लुप्त हो गए। वे वर्तमान में उपलब्ध आगमों की प्रामाणिकता को नहीं स्वीकार करते।

इस प्रकार प्रारम्भ में जैन शासन कई शताब्दियों तक अखण्ड रहा और फिर वह श्वेताम्बर और दिगम्बर –इन दो शाखाओं में विभक्त हुआ। शताब्दियों तक यह क्रम चलता रहा। फिर धीरे-धीरे समय के साथ ये दोनों शाखाएँ अनेक उपशाखाओं में विभक्त हो गईं।

३.५ श्वेताम्बर के मुख्य सम्प्रदाय (The Main Branches of Shwetambar Sect)

श्वेताम्बर-परम्परा में मुख्य तीन धाराएँ प्रवाहित हुईं– १. मूर्तिपूजक, २. स्थानकवासी, ३. तेरापंथ।

३.५.१ मूर्तिपूजक (Idolators)

जो मूर्ति-पूजा में विश्वास करते हैं, वे मूर्तिपूजक कहलाते हैं। आध्यात्मिक विकास के लिए वे मूर्तिपूजा को आवश्यक मानते हैं अत: वे प्रतिदिन मंदिर जाकर चैत्य वंदन करते हैं तथा अष्ट प्रकार की पूजा, आरती इत्यादि क्रियाएँ करते हैं।

३.५.२ स्थानकवासी (Sthanakayasi)

इस सम्प्रदाय का उद्भव मूर्ति-पूजा के अस्वीकार पक्ष में हुआ। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और आचार की कठोरता का पक्ष प्रबल किया। ये गृहस्थ थे। इनकी परम्परा में ऋषि लवजी, आचार्य धर्मसिंहजी और आचार्य धर्मदासजी प्रतिभाशाली आचार्य हुए। आचार्य धर्मदासजी के निन्यानवे शिष्य थे। उन्होंने अपने विद्वान शिष्यों को बाईस भागों में बाँटा और विभिन्न प्रान्तों में उन्हें धर्म-प्रचार करने के लिए भेजा। बाईस भागों में बाँटने के कारण इसे बाईस-सम्प्रदाय या बाईस टोला के नाम से जाना जाने लगा। आगे चलकर स्थानकों की मुख्यता के कारण यही 'स्थानकवासी' सम्प्रदाय के नाम से पहचाना जाने लगा। वर्तमान में इसका नाम 'श्रमण-संघ' कर दिया गया है और यह भी अनेक विभागों में विभक्त दिखाई देता है।

३.५.३ तेरापंथ (Terapanth)

तेरापंथ का उद्भव स्थानकवासी सम्प्रदाय से हुआ। इसके अलग होने का मुख्य कारण बना – आचार-विचार की भिन्नता। स्थानकवासी सम्प्रदाय के तत्कालीन सम्प्रदायों में एक सम्प्रदाय के प्रमुख थे – आचार्य रघुनाथजी। आचार्य भिक्षु वि.सं. १८०८ में उनके पास दीक्षित हुए। आचार-विचार संबंधी भेद को लेकर वि.सं. १८१७ चैत्र शुक्ला नवमी को उन्होंने इस सम्प्रदाय से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया। वह दिन आचार्य भिक्षु का महा-अभिनिष्क्रमण दिवस कहलाया।

आचार्य भिक्षु का उद्देश्य किसी सम्प्रदाय को जन्म देना नहीं था। वे शुद्ध आचार और विचार के पक्षपाती थे। उन्होंने आगम का दोहन कर आगमसम्मत राह पर अपने कदम बढ़ाए। **'महाजनो येन गत: स पन्था:'** इस सूक्त के अनुसार वे जिस मार्ग पर चले वह राजमार्ग बन गया। लोगों ने उसका अनुसरण किया। वह मार्ग तेरापंथ के रूप में प्रसिद्ध हुआ। हालांकि यह नाम जिसके द्वारा रखा गया, उन्के सामने संख्या की ही प्रधानता थी। एक स्थान पर तेरह श्रावकों को धर्मोपासना करते देख उसने तेरापंथी नाम दे दिया। पर आचार्य भिक्षु ने अपनी प्रत्युत्पन्न मेधा से इस नाम की सार्थक अभिव्यक्ति देते हुए कहा – 'हे प्रभो! यह तेरापंथ' अर्थात् प्रभो! यह आपका पंथ है। हम इस पथ के पथिक हैं। इसका दूसरा अर्थ उन्होंने यह भी किया कि पाँच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति – इन तेरह नियमों का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जो पालन करता है, वह तेरापंथी है। तेरापंथ की स्थापना का प्रथम दिन है, वि.सं. १८१७, आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा, केलवा (मेवाड़)।

तेरापंथ की एकसूत्रता के लिए आचार्य भिक्षु ने मर्यादाओं का निर्माण किया। शिष्य प्रथा को समाप्त किया। थोड़े ही समय में तेरापंथ एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए प्रसिद्ध हो गया। वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ इस संघ का नेतृत्व कर रहे हैं।

३.६ दिगम्बर के मुख्य सम्प्रदाय (The Main Branches of Digambar Sect)

दिगम्बर-परम्परा के मुख्य सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं – १. भट्टारक सम्प्रदाय, २. तेरहपंथ और बीसपंथ, ३. तारणपंथ।

३.६.१ भट्टारक सम्प्रदाय (Digambara Jain Clergy)

चौथी, पाँचवीं शताब्दी में जैन साधुओं में चैत्यवास (मंदिर निवास) की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई और एक वर्ग विशेष ने इसको अपने जीवन का स्थायी आधार बना लिया। ये ही मध्यकाल में आते-आते भट्टारक सम्प्रदाय के जनक बने। इनके कारण अनेक मन्दिर, भट्टारकों की गद्दियां एवं मठ आदि स्थापित हो गए तथा इनमें चैत्यवासी साधु मठाधीश बनकर स्थायी रूप से रहने लगे। इनका झुकाव परिग्रह और उपभोग के साधनों की ओर दिखाई देने लगा। धीरे-धीरे यह वर्ग वस्त्र की ओर आकर्षित होने लगा। इसका प्रारंभ वसन्तकीर्ति (१३वीं सदी) द्वारा मांडव दुर्ग (मांडलगढ़ – राजस्थान) में किया गया। भट्टारक प्रथा भी लगभग यहीं से प्रारम्भ हुई।

दिगम्बर भट्टारक नग्न रूप को पूज्य मानते थे और दिगम्बर मूर्तियों का ही निर्माण कराते थे, साथ ही यथा अवसर दिगम्बर मुद्रा भी धारण करते थे। ये गठाधीश बनकर रहते थे तथा वहीं से तीर्थों एवं गठों की सारगत गतिविधियों का संचालन करते थे। पीठाधीश भट्टारकों के उत्तराधिकारी ही इन गठों के स्वामी होते थे।

इस प्रकार भट्टारकों के आचार में कुछ शैथिल्य आया किन्तु दूसरी ओर उससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि इन भट्टारक गद्दियों और मठों में विशाल शास्त्र भण्डारों से युक्त अनेक विद्या-केन्द्र स्थापित हो गये। मध्यकालीन साहित्य का सृजन प्रायः इसी प्रकार के केन्द्रों में हुआ। इसी उपयोगिता के कारण भट्टारक गद्दियां प्रायः सभी प्रमुख नगरों में स्थापित हो गयीं और मन्दिरों में अच्छा शास्त्र भण्डार रहने लगा। यहीं से प्राचीन शास्त्रों की लिपि-प्रतिलिपि कराकर विभिन्न केन्द्रों में आदान-प्रदान किया जाने लगा। आज भी भट्टारक युग में प्रतिलिपि कराए गये अनेक प्राचीन ग्रंथ जयपुर, जैसलमेर, ईडर, कारंजा,मूडबिही, कोल्हापुर आदि के बड़े-बड़े शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित हैं। जैन संघ और सम्प्रदाय को भट्टारकों की यह देन अविस्मरणीय है।

३.६.२ तेरहपंथ और बीसपंथ (Terapanth and Beespanth)

भट्टारक परम्परा के विरोध में विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में पं. बनारसीदास ने एक नए पंथ को जन्म दिया जो तेरहपंथ कहलाया। इन्हें अपने आपको तेरहपंथ कहने पर भट्टारकों के अनुयायियों ने अपने आपको बीसपंथी कहना प्रारंभ कर दिया। तेरहपंथ और बीसपंथ के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की उपपत्तियाँ हैं। इस सम्बन्ध में पं. जगमोहनलाल के अनुसार – ''उस समय देश में भट्टारकों की बीस प्रमुख गद्दियाँ थीं। उन्हें अपना गुरु मानने वाले बीसपंथी कहलाये तथा जो तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करने वाले शुद्धाचारी मुनियों के उपासक थे वे तेरापंथी कहलाये। वस्तुतः तेरहपंथ और बीसपंथ में कोई खास भेद नहीं है, मात्र पूजा पद्धति में ही अन्तर है। बीसपंथी भगवान की पूजा में फल, फूल आदि चढ़ाते हैं जबकि तेरहपंथी फल, फूल आदि सचित्त पदार्थ नहीं चढ़ाते। वे चावल आदि सूखे पदार्थ ही चढ़ाते हैं।

३.६.३ तारणपंथ (Taranpanth)

पंद्रहवीं शताब्दी में जिस समय मुस्लिम आक्रांताओं ने जैन मूर्तिकला और स्थापत्य पर काफी आघात पहुंचा दिया था उसी समय एक तरण नामक व्यक्ति ने इस पंथ को जन्म दिया। जो आगे चलकर संत तारण के नाम से विख्यात हुआ। यह पंथ मूर्ति-पूजा के विरोध में उत्पन्न हुआ। संत तरण के द्वारा प्ररूपित होने के कारण यह पंथ तारणपंथ के नाम से ख्यात हुआ। संत तारण ने १४ ग्रंथों की रचना की। इनके अनुयायी मूर्तिपूजा नहीं करते। वे अपने चैत्यालयों में विराजमान शास्त्रों की पूजा करते हैं। इनके यहां संत तारण द्वारा रचित ग्रंथों के अतिरिक्त दिगम्बर जैनाचार्यों के ग्रंथों की भी मान्यता है। संत तारण का प्रभाव मध्य प्रांतों के ही कुछ क्षेत्रों तक सीमित रहा, जहां इनके अनुयायी आज भी हैं।

३.७ बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. क्रियावाद किसे कहते हैं?
२. भगवान महावीर के समय कितने सम्प्रदाय थे?
३. श्वेताम्बर परम्परा के मुख्य सम्प्रदाय कौन-से हैं?
४. दिगम्बर परम्परा के मुख्य सम्प्रदाय कौन-से हैं?
५. मूर्तिपूजक किसे कहते हैं?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. भगवान महावीर के समय प्रचलित विविध वादों का विवेचन करें ?

२. जैन धर्म के मुख्य सम्प्रदायों का विवेचन करें ?

इकाई-२.४ **श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्य**

(Acharya of Shwetambar and Digambar)

इकाई की रूपरेखा

४.० उद्देश्य

४.१ प्रस्तावना

४.२ श्वेताम्बर आचार्य

- ४.२.१ आचार्य शय्यंभव
- ४.२.२ आचार्य हरिभद्रसूरि
- ४.२.३ आचार्य हेमचन्द्र
- ४.२.४ आचार्य भिक्षु

४.३ दिगम्बर आचार्य

- ४.३.१ आचार्य उमास्वामी
- ४.३.२ आचार्य कुन्दकुन्द
- ४.३.३ आचार्य वीरसेन
- ४.३.४ आचार्य अकलंक

४.४ बोध प्रश्न

४.० उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

- श्वेताम्बर सम्प्रदाय के कुछ प्रभावक आचार्यों के जीवन दर्शन से परिचित हो सकेंगे।
- दिगम्बर सम्प्रदाय के कुछ प्रभावक आचार्यों के जीवन दर्शन से परिचित हो सकेंगे।

४.१ प्रस्तावना

भगवान महावीर से लेकर अब तक जैन परम्परा में अनेक विशिष्ट आचार्यों की गौरवशाली परम्परा रही है। प्रस्तुत इकाई में श्वेताम्बर परम्परा के कुछ आचार्य, जैसे – आचार्य शय्यंभव, आचार्य हरिभद्रसूरि, आचार्य अभयदेवसूरि, आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य भिक्षु, दिगम्बर परम्परा के कुछ आचार्य, जैसे – आचार्य उमास्वामी, आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य वीरसेन तथा आचार्य अकलंक के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का विवेचन किया जा रहा है।

४.२ जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट आचार्य (Some Eminent Acharyas of Jain Tradition)

जैन परम्परा में विशिष्ट आचार्यों की गौरवशाली परम्परा रही है। महावीर के निर्वाण के बाद जैन शासन को अनेक शक्तिशाली आचार्यों का नेतृत्व मिलता रहा है। जिनके नेतृत्व में धर्मसंघ सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित था। श्वेताम्बर और दिगम्बर – दोनों ही परम्पराओं में अनेक ऐसे विशिष्ट आचार्य हुए हैं जिन्होंने जैन धर्म की प्रभावना में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यहाँ कुछ आचार्यों का परिचय दिया जा रहा है –

श्वेताम्बर आचार्य

(The Acharyas of the Shwetambar Sect)

४.२.१ आचार्य शय्यंभव (Acharya Shayyambhava)

शय्यंभव भगवान महावीर के चतुर्थ पट्टधर आचार्य बने। ब्राह्मण परम्परा से श्रमण परम्परा में प्रवेश करके उन्होंने एक नया इतिहास बनाया। आचार्य प्रभव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

से तत्त्व को समझकर उन्होंने मुनि दीक्षा स्वीकार की।

शय्यंभव राजगृह के ब्राह्मण परिवार में जन्मे। बचपन से ये कठोर एवं अहंकारी स्वभाव के थे। ये वैदिक ग्रन्थों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। यज्ञादि-क्रियाकाण्डों में इनकी बहुत निष्ठा थी, इसलिए जैन-धर्म का खुला विरोध करने लग गये।

आचार्य प्रभव जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए जब जीवन के सन्ध्याकाल में पहुँचे तब उन्हें यह चिन्ता सताने लगी कि मेरा गणभार, यानी संघीय दायित्व कौन संभालेगा? एक दिन पश्चिम रात्रि के समय उन्होंने पूरे संघ पर दृष्टि दौड़ाई, किन्तु ध्यान में न कोई योग्य श्रावक आया और न कोई योग्य मुनि। जब ब्राह्मण समाज पर ध्यान लगाया, तब शय्यंभव योग्य व्यक्तित्व के रूप में परिलक्षित हुए, परन्तु उन तक पहुंचना या उन्हें यहां तक ले आना –ये दोनों ही कार्य कठिनतम थे। आखिर सुयोग्य दो श्रमणों को वहां भेजने का निर्णय लिया। दोनों श्रमणों को सम्पूर्ण अवगति के साथ शय्यंभव के विशाल यज्ञ-वाटिका में भेजा। वहां जाते ही द्वार पर खड़े होकर उन्होंने धर्म-लाभ शब्द कहा। शय्यंभव ने यह सुनते ही श्रमणों को अपमान पूर्वक तुरन्त बाहर निकलने की बात कही। श्रमण बोले – **''अहो कष्टं, अहो कष्टं, तत्त्वं न ज्ञायते क्वचित्''** – बहुत खेद का विषय है, कि तत्त्व कोई नहीं जानता।

तत्त्व नहीं जानने की बात सुनकर शय्यंभव खड़े हो गए। वह कौन-सा तत्त्व है, जिसे मैं नहीं जानता। दूसरे ही क्षण मन में आया कि ये तपस्वी जैन मुनि झूठ नहीं बोल सकते। तत्त्व क्या है, मुझे उपाध्याय से तुरन्त जानकारी करनी चाहिए। वहां गये, उपाध्याय से पूछा। तत्त्व क्या है? मुझे बताया जाये। उपाध्याय ने कहा – वेद ही परम तत्त्व है। वे ही स्वर्ग और अपवर्ग दाता हैं। नहीं, सही तत्त्व बताया जाये, अन्यथा तत्त्व की खोज के लिए मैं उन्हीं मुनियों के पास जा रहा हूँ। समुचित समाधान न पाने पर यज्ञ-सामग्री उपाध्याय को सौंपकर खोज करते-करते वे आचार्य प्रभव के पास पहुँच गये। उनसे तत्त्व बोध मिला। दीक्षा स्वीकार करके वे द्वितीय श्रुतकेवली बने। शय्यंभव के जीवन में ज्ञान और तप का सुन्दर योग था।

शय्यंभव ने जिस समय साधुत्व स्वीकार किया, उनकी पत्नी गर्भवती थी। समय के साथ पुत्र का जन्म हुआ। बड़े दुलार से माँ ने पालन किया। एक दिन बालक ने अपनी माँ से पूछा – मेरे पिताजी का नाम क्या है? वे कहां हैं? यह मुझे आज ही बताना पड़ेगा, क्योंकि मेरे साथी न बताने पर उपहास करते हैं। माँ बालक के अति आग्रह को टाल नहीं सकी। सारा पूर्व वृत्तांत बता दिया। अब तो बालक पिता (मुनि) से मिलने के लिए आतुर हो उठा। वह तत्काल खोज में निकल पड़ा। अचानक चलते-चलते आचार्य शय्यंभव से मिलन हो गया। आचार्य ने मनमोहक कांति को देखकर परिचय पूछा। बालक ने अपना परिचय बताकर कहा – मैं अपने पिता शय्यंभव मुनि से मिलने निकला हूँ। आचार्य ने उसे अपना पुत्र समझकर धर्म का सार बताया और उसके कोमल-मानस में वैराग्य का बीजारोपण किया। मुनिदीक्षा प्रदान की।

आचार्य शय्यंभव ज्योतिष (हस्तरेखा) के जानकार थे। उन्होंने जान लिया कि इसका आयुष्य बहुत कम रह गया है। यह सम्पूर्ण आगमों का अध्ययन नहीं कर सकेगा, इसलिए इसके लिए पूर्वों से कुछ अंशों का निर्यूहण किया जाए, जिससे यह मुनिचर्या को भलीभाँति जान सके। उन्होंने दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया। उसका विधिवत् अध्ययन कराया। छः मास के बाद मुनि मनक का स्वर्गवास हो गया। आचार्य का खिन्न होना स्वाभाविक था, क्योंकि वे वीतरागी नहीं थे। यशोभद्र आदि श्रमणों ने उदासी का कारण जानना चाहा। आचार्य ने बताया कि यह मेरा संसारपक्षीय पुत्र था। शिष्यों ने कहा – अगर आप पहले बताते तो हम इस बालमुनि की अच्छी सेवा करते, काम नहीं कराते। आचार्य अनुभवी थे। वे जानते थे कि ऐसा कहने पर अन्य साधु मनक से कार्य नहीं करायेंगे, जिससे इसकी निर्जरा में अन्तराय आयेगी।

आचार्य शय्यंभव का शासन काल बहुत प्रभावक था। इन्होंने अपने जीवन के संध्या काल में मुनि यशोभद्र का चयन करके पूरे संघ को निश्चिंत कर दिया। वे ८२ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवासी बने।

४.२.२ आचार्य हरिभद्रसूरि (Acharya Haribhadrasuri)

जैन परम्परा में हरिभद्र नाम के कई आचार्य हुए हैं। उनमें प्रथम हैं याकिनी महत्तरा द्वारा प्रतिबुद्ध हुए आचार्य हरिभद्र। हरिभद्रसूरि जिज्ञासु एवं उदारमना आचार्य थे। इन्हें महत्तरासुनू भी कहते हैं।

जन्म-परिचय (Life History)

आचार्य हरिभद्र का जन्म चित्तौड़ निवासी एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। ये राजपुरोहित के पद पर नियुक्त तथा सभी ब्राह्मण विद्याओं में पारंगामी विद्वान् थे। उन्हें सर्वत्र प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त था, इस कारण से उनमें अहं जाग गया। उन्हें अपनी विद्याओं पर खुला गर्व था तथापि वे नवीन ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सदा जिज्ञासु बने रहते थे। उन्होंने इसी जिज्ञासा से प्रेरित होकर एक संकल्प किया था कि जिसका अर्थ मैं नहीं बता सकूं, ऐसे गूढ़ अर्थ के धारक व्यक्तित्व के चरणों में अपना सिर झुकाकर उनका तत्काल शिष्यत्व स्वीकार कर लूंगा।

वे शास्त्रार्थ के बहुत शौकीन थे। जहां कहीं से आह्वान मिलता, तत्पर रहते थे। उन्हें अपने ज्ञान पर बहुत गर्व था और उसे प्रदर्शित करने के लिए अपने साथ सदैव तीन चीजें रखते थे –

१. **कुदाली** – यदि मेरा प्रतिद्वन्द्वी कभी पाताल में भी चला जाये तो मैं उसे कुदाली से खोद कर निकाल लूंगा।

२. **निसरणी** – यदि वह आकाश में भाग जाये तो मैं निसरणी से चढ़कर उसे उतार लूंगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

३. जाल – यदि प्रतिद्वन्द्वी जल में जा छिपे तो उसे जाल में फंसा कर निकाल लूंगा। जम्बूद्वीप में मेरे जैसा कोई विद्वान् नहीं है, इस असाधारणता को प्रकट करने के लिए वे जम्बू वृक्ष की डाली हाथ में रखते थे।

एक दिन की बात है। वे पालकी में बैठकर रात को राजदरबार में जा रहे थे। साथ में अनेक लोग थे। चारों ओर नारों की गूंज थी। इसी बीच अचानक एक मतवाला हाथी तेज दौड़ता हुआ दिखाई दिया। भय से नारे लगाने वाले सभी लोग इधर-उधर भाग गये। पालकी उठाने वाले लोग भी बिखर गये। अब रह गये अकेले हरिभद्र। पास में उपाश्रय था जहां साध्वी संघ की प्रमुख 'महत्तरायाकिनी' बैठी थी। वह स्वाध्याय कर रही थी। एक श्लोक हरिभद्रसूरि के कानों से टकराया –

चक्की दुग्गं हरिपणगं, पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की, केसव दुचक्की केसी अ चक्की अ॥

पहले दो चक्रवर्ती, पांच वासुदेव, फिर पांच चक्रवर्ती, एक वासुदेव, एक चक्रवर्ती, एक वासुदेव, एक चक्रवर्ती, वासुदेव, दो चक्रवर्ती एक वासुदेव और एक चक्रवर्ती हुए।

हरिभद्र इस श्लोक के अर्थ चिन्तन में लीन हो गये, किन्तु बुद्धि ने साथ नहीं दिया। यह उनके अहं पर चोट करने वाली पहली घटना थी। वे बहुत दूर तक सोचते रहे परन्तु अर्थबोध नहीं हुआ। वे दो कदम आगे बढ़े। उपाश्रय में गये। दूर खड़े होकर पूछा – महासतीजी! यह किस ग्रन्थ का स्वाध्याय चल रहा है? केवल चिकचिकाहट सुनाई दे रही है। अर्थ का भी तो ज्ञान होना चाहिए।

महत्तरायाकिनी आगमविज्ञा एवं व्यवहारकुशल थीं। उन्होंने कहा – यह आगम वाक्य है। आगम वाक्य अर्थहीन नहीं होते, किन्तु इस पाठ को गुरु सेवा में बैठकर ही जाना जा सकता है। आपको विनम्र भाव से अर्थ पूछना चाहिए। हरिभद्र ने विनय के साथ अर्थ पूछा। साध्वीजी ने जिज्ञासु वृत्ति वाला समझकर उपालम्भ के स्वर में कहा – रात के समय साध्वियों के स्थान में अकेले पुरुष का प्रवेश कहां तक उचित है?

हरिभद्र अपनी भूल अनुभव करते हुए बोले – अभी नहीं, कल आने का विचार रखूंगा, कहकर जाने लगे। तब साध्वी ने कहा – मेरे गुरुदेव जिनभद्रगणी से सम्पर्क करना। प्रातः होते ही गुरुदेव के चरणों में पहुंचकर अर्थ बताने की प्रार्थना की। आचार्य देव ने कहा – यह संग्रहणी गाथा है। इसका अर्थ चक्रवर्ती और वासुदेवों से सम्बन्धित है। उनका क्रम इसमें बताया गया है। जिनभद्रगणी ने सम्पूर्ण गाथा का विस्तार पूर्वक अर्थ बताया। आचार्य हरिभद्र अपनी पूर्व कृत प्रतिज्ञा के अनुसार जिनभद्रगणी के शिष्य बन गये और याकिनी-महत्तरा को बोधदात्री धर्म-जननी के रूप में स्वीकार कर लिया। वे उनके नाम को सदा अपने नाम के साथ जोड़े रखते थे। (याकिनी महत्तरा सुनू)

जब वे स्वयं आचार्य पद पर आसीन हुए तब अपने दो शिष्यों (हंस और परमहंस) को बौद्ध विद्यापीठ में प्रमाण शास्त्र पढ़ने को भेजा। उस समय साम्प्रदायिक उन्माद अधिक था। प्रकट रूप में कोई किसी को पढ़ाना नहीं चाहता था इसलिए गुप्त रूप में पढ़ने जाते थे। दोनों शिष्य पढ़ने गये। एक दिन आशंका होने पर परीक्षा का आयोजन किया गया। दो प्रतिमाएँ – एक जिनेश्वर देव की तथा एक बुद्ध की बनाकर रखी। आदेश था, सभी छात्र मूर्ति पर पैर रखकर जायें। सबने जिन-प्रतिमा पर पैर रखे। केवल दो भाइयों ने जिन-प्रतिमा पर पैर नहीं रखे। गुप्त निरीक्षकों के द्वारा पता चलते ही उन्हें पकड़ लिया गया। उन्होंने भागने का प्रयास किया। हंस को रास्ते में ही मार दिया गया तथा परमहंस गुरुदेव के चरणों में पहुंचा। सारे घटनाक्रम की जानकारी दी।

हरिभद्रसूरि ने अपने शिष्यों के साथ हुए दुर्व्यवहार का बदला लेने के लिए १४४४ बौद्ध शिष्यों को आकाशमार्ग से बुला लिया।

इधर गुरुणीजी ने तेल के उबलते हुए कड़ाहे देखे। वे आलोचना के बहाने सूरिजी के पास जाकर बोलीं – कल एक मेंढक की मेरे पैर से हत्या हो गई, इसलिए दण्ड लेने आई हूँ। गुरुदेव तपाक से बोले – सावधानी रखनी चाहिए। एक तेले का दंड है।

महत्तराजी ने अवसर पर चेतावनी देते हुए कहा – फिर ये चौदह सौ चवालीस पंचेन्द्रिय हत्या के कितने तेले आयेंगे और किसको? यह सुनते ही आचार्य चिंतन में डूब गये। विचार बदल गये। सब शिष्यों को उसी मार्ग से वापिस लौटा दिया। संकल्प किया, इस पाप का प्रायश्चित्त चौहद सौ चवालीस ग्रन्थ बनाकर करूंगा। उन्होंने ग्रन्थ बनाए। वे सब ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। आचार्य हरिभद्र आगमों के प्रथम संस्कृत टीकाकार थे। इन्होंने आवश्यकसूत्र, नन्दी, दशवैकालिक, अनुयोगद्वार आदि अनेक सूत्रों पर प्रशस्त एवं विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखीं।

आचार्य हरिभद्र योग के पुरस्कर्ता और न्यायग्रन्थों के रचयिता थे। अनेकान्त जयपताका, योगदृष्टिसमुच्चय, षड्दर्शन, योगशतक, योगबिन्दु आदि इनकी अपूर्व रचनाएँ हैं। ये समन्वय की शृंखला के अग्रणी आचार्य थे।

इनका समय विक्रम की ८वीं शताब्दी माना जाता है।

४.२.३ आचार्य अभयदेवसूरि (नवांगी टीकाकार) (Acharya Abhayadeva Suri)

जैन परम्परा में अभयदेवसूरि नाम से भी कई आचार्य हुए हैं। नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव श्रमनिष्ठ और स्वाद विजेता थे। इनका जन्म वि.सं. १०७२ में हुआ।

इनका जन्मस्थान धारानगरी, पिता महिधर, माता धनीदेवी थीं। उस समय उज्जैन में राजा भोज का शासन था। एक बार जिनेश्वरसूरि धारा नगरी में पधारे। पिता के साथ अभयदेव प्रवचन सुनने गया। उसे वैराग्य हुआ। वह आचार्य वर्धमानसूरि के पास दीक्षित हो गया। बालमुनि प्रबल प्रतिभा-सम्पन्न था। उन्हें योग्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

समझकर सोलह वर्ष की अवस्था में आचार्य पद पर नियुक्त कर दिया गया।

कहते हैं कि एक बार रात्रि के समय शासन देवी ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा – अब तक केवल दो ही आगमों की (सूत्रकृतांग और आचारांग) टीकाएँ उपलब्ध हैं। आज जैन-संघ में जो टीकाएँ लुप्त हो चुकी हैं अथवा जिनका अभाव है, वे बनाकर आप शासन की सेवा करें।

अभयदेव ने कहा – देवी! मेरे जैसा जड़मति, मंदगति यह कैसे कर सकता है? यदि कहीं विपरीत प्ररूपणा हो गई तो संसार-वृद्धि का कारण बनेगा। आपके कथन का उल्लंघन करना भी मैं नहीं चाहता और इस दुरुह कार्य-सम्पादन की क्षमता भी मेरे में नहीं है।

देवी ने प्रेरित करते हुए पुन: कहा – विद्वत्वर! मैंने आपको योग्य समझकर ही निवेदन किया है। यदि बीच में कहीं अर्थ-निर्धारण में कठिनाई होगी तो मैं सीमंधर स्वामी से जानकारी करके आप तक पहुंचाऊंगी। इस आश्वासनपूर्ण वचन को सुनकर वे कार्य में जुट गये। तपस्या के साथ आगमों की टीका-रचना को प्रारम्भ किया। आयम्बिल की साधना बढ़ते-बढ़ते एक दिन उन्हें लगा कि शरीर रुग्ण होता जा रहा है। निरन्तर आयम्बिल और रात्रिजागरण के श्रम से शरीर में ऊष्मा पैदा हो गई, फलत: कुष्ठरोग हो गया। यह देखकर अभयदेव को आशंका हुई। रात को धरणेन्द्र देव का स्मरण किया। कहते हैं – देव-प्रभाव से उस समय उन्हें गहरी नींद आ गई। धरणेन्द्र देव एवं पद्मावती देवी ने जिह्वा को लम्बी बढ़ाकर पूरे शरीर को चाटा, फलत: कुष्ठ का पानी बंद हो गया। पूरा शरीर पहले से अधिक सुन्दर हो गया। देवी ने कहा – आप चिंता न करें। आपका कार्य सानन्द सम्पन्न होगा।

कई ग्रंथों के अनुसार कहा जाता है कि उन्होंने बीमारी के कारण अनशन करने की बात सोची, किन्तु शासनदेवी ने उन्हें रोक दिया।

टीका-साहित्य निर्माण का कार्य सम्पन्न करके 'पाल्हउदा' गांव में पधारे। अचानक श्रावकों द्वारा उन्हें सूचना मिली कि उनके माल से भरे जहाज समुद्र में डूब गये हैं। संभव है इस कारण आज श्रावक लोग धर्मस्थान में नहीं आयेंगे। यह सुनकर आचार्य स्वयं उनकी वसति में पधार गये। श्रावकों से कहा – चिंता मत करो। धर्म के प्रताप से सब ठीक होगा। आचार्य अभयदेव के इन शब्दों से सबको संतोष मिला। दूसरे दिन सुरक्षित माल मिल जाने की सूचना पाकर सबको अत्यधिक प्रसन्नता हुई। इस पर श्रावकों ने कहा –इस माल के बिकने से हमें जो लाभ होगा, उसका अर्धांश साहित्य लेखन में लगायेंगे। श्रावकों द्वारा प्रदत्त धनराशि से टीका-साहित्य की अनेक प्रतिलिपियां निर्मित हुई। तत्कालीन प्रमुख आचार्यों के पास कई स्थानों पर उस साहित्य को पहुंचाया गया। आचार्य अभयदेव की सर्वत्र प्रसिद्धि हुई। टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि १६ वर्ष की उम्र में आचार्य बने। ५१ वर्ष तक धर्म-संघ का कुशल संचालन किया। उन्होंने टीका-रचना का कार्य वी.नि. १५९०-१५९८ (वि.सं. ११२०-११२८) में किया था। पट्टावलियों के अनुसार टीका कार्य सम्पन्नता के ६ वर्ष अथवा ११ वर्ष बाद ही उनका स्वर्गवास हो गया। इस आधार पर अभयदेव वी.नि. १५वीं-१६वीं (वि.सं. ११वीं-१२वीं) सदी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

४.२.४ आचार्य हेमचन्द्र (Acharya Hemachandra)

जैनाचार्यों में कलिकालसर्वज्ञ की उपाधि से पहचाने जाने वाले आचार्य हैं – श्री हेमचन्द्राचार्य। इनका जन्म अहमदाबाद के उत्तर-पश्चिम में ६२ मील की दूरी पर स्थित धंधुका गांव में सम्वत् ११४५ की कार्तिक पूर्णिमा को हुआ। पिता का नाम चाचदेव तथा माता का नाम पाहिनी था। पाहिनी ने स्वप्न में चिन्तामणी रत्न देखकर पुत्र को जन्म दिया। चान्द्रगच्छ के आचार्य देवचन्द्र सूरि से स्वप्न का रहस्य पूछा। उन्होंने कहा – स्वप्न बहुत अच्छा है। तुम जैन शासन की प्रभावना करने वाले पुत्र को जन्म दोगी।

आचार्य हेमचन्द्र कलिकालसर्वज्ञ के नाम से प्रसिद्ध हैं। आपने सूक्ष्म मेधा एवं विविध आयामी बुद्धि से अनेक विधाओं में विशाल परिमाण में साहित्य रचना कर अपने इस विशेषण को सार्थक बना दिया। अपने जीवन काल में इन्होंने साढ़े तीन करोड़ श्लोकों की रचना की।

गुजरात के महाराजा सिद्धराज, जयसिंह, कुमारपाल आदि इनके अनन्य भक्त थे। महाराज सिद्धराज की प्रेरणा से उन्होंने सर्वांगपूर्ण व्याकरण सिद्धहेमशब्दानुशासन की रचना की। इनके प्रमुख ग्रंथों में पाँच अनुशासन हैं – शब्दानुशासन, लिंगानुशासन, छन्दानुशासन, काव्यानुशासन तथा जीवानुशासन। योगशास्त्र, त्रिषष्टिश्लाकापुरुषचरित्र, परिशिष्ट पर्व, कुमारपाल प्रतिबोध आदि अनेक ग्रंथों के नाम गिनाये जा सकते हैं। कहा जाता है, इन्हें 'सिद्धसारस्वत मन्त्र' सिद्ध था। ये बोलते थे तो चौरासी कलम लिये चौरासी व्यक्ति लिखते थे। इनका स्वर्गवास वि.सं. १२२९ में हुआ। इनके प्रमुख शिष्यों में रामचन्द्रसूरि, गुणसूरि आदि थे। हेमचन्द्राचार्य की कुल आयु ८४ वर्ष थी। इन्होंने ६३ वर्ष तक आचार्य पद का दायित्व संभाला।

४.२.५ आचार्य भिक्षु (Acharya Bhikshu)

तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु श्रमण परम्परा के महान् संवाहक थे। उनका जन्म वि.सं. १७८३ आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी को कंटालिया (मारवाड़) में हुआ। उनके पिता का नाम शाह बल्लुजी तथा माता का नाम दीपां बाई था। उनकी जाति ओसवाल तथा वंश सकलेचा था। प्रारम्भ से ही वे असाधारण प्रतिभा के धनी थे। तत्कालीन परम्परा के अनुसार छोटी उम्र में ही उनका विवाह हो गया। वैवाहिक जीवन से बंध जाने पर भी उनका जीवन वैराग्य भावना से ओत-प्रोत था। पत्नी भी उनको उन्हीं के समान धार्मिक विचारों वाली मिली। पति-पत्नी दोनों ही दीक्षा लेने के लिए उद्यत हुए, किंतु नियति को शायद यह मान्य नहीं था। कुछ वर्षों बाद पत्नी का देहावसान हो गया। भीखणजी अकेले ही दीक्षा लेने को उद्यत हुए, पर माता ने दीक्षा की अनुमति नहीं दी। तत्कालीन स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्यश्री रघुनाथजी के समझाने पर माता ने कहा – 'महाराज! मैं इसे दीक्षा की अनुमति कैसे दे सकती हूँ क्योंकि जब यह गर्भ में था तब मैंने सिंह का स्वप्न देखा था। उस स्वप्न के अनुसार यह बड़ा होकर किसी देश का राजा बनेगा और सिंह के समान पराक्रमी होगा।' आचार्य रघुनाथजी ने कहा – 'बाई! यह तो बहुत अच्छी बात है। राजा तो एक देश में पूजा जाता है, तेरा बेटा तो साधु बनकर सारे जगत् का पूज्य बनेगा और सिंह की तरह गूंजेगा।' इस प्रकार आचार्य रघुनाथजी के समझाने पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)/Ladnun

माता ने सहर्ष दीक्षा की अनुमति दे दी।

वि.सं. १८०८ मार्गशीर्ष कृष्णा बारस को भीखणजी ने आचार्य रघुनाथजी के पास दीक्षा ग्रहण की। संत भीखणजी की दृष्टि पैनी और मेधा सूक्ष्मग्राही थी। तत्त्व की गहराई में पैठना उनके लिए स्वाभाविक बात थी। थोड़े ही वर्षों में वे जैन शास्त्रों के पारगामी पंडित बन गए।

वि.सं. १८१५ के आस-पास संत भीखणजी के मस्तिष्क में साधु-वर्ग की आचार-विचार संबंधी शिथिलता के प्रति एक क्रांति की भावना पैदा हुई। उन्होंने अपने क्रान्तिपूर्ण विचारों को आचार्य रघुनाथजी के सामने रखा। दो वर्ष तक विचार-विमर्श होता रहा। जब कोई संतोषजनक निर्णय नहीं हुआ तब विचार-भेद के कारण वि.सं. १८१७ शुक्ला नवमी को कुछ साधुओं सहित बगड़ी (मारवाड़) में उनसे पृथक् हो गए। उनकी धर्मक्रान्ति का विरोध हुआ। चूँकि उस समय पूज्य रघुनाथजी का प्रभाव प्रबल था। इसलिए लोगों ने भीखणजी का असहयोग किया। ठहरने के लिए स्थान नहीं दिया। इसलिए उन्होंने पहला पड़ाव गाँव के बाहर शमशान में जैतसिंहजी की छतरियों में किया। आज भी वे छतरियां विद्यमान हैं।

जैनागमों में वर्णित आचार-विचार के आधार पर आचार्य भिक्षु जीवन में शुद्ध साधुता को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। वि.सं. १८१७ आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को केलवा (मेवाड़) में बारह साथियों सहित उन्होंने शास्त्र-सम्मत दीक्षा ग्रहण की। यही तेरापंथ स्थापना का प्रथम दिन था। इसी दिन आचार्य भिक्षु के नेतृत्व में एक सुसंगठित साधु संघ का सूत्रपात हुआ और वह संघ तेरापंथ के नाम से प्रख्यात हो गया।

वि.सं. १८३२ में आचार्य भिक्षु ने अपने प्रमुख शिष्य भारमलजी को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसी समय संघीय मर्यादाओं का भी निर्माण किया। उन्होंने पहला गर्यादा पत्र इरी वर्ष गार्गशीर्ष कृष्णा राप्तगी को लिखा। उराके बाद रागय-रागय पर नयी-नयी गर्यादाओं के निर्माण रो रांघ को रुद्दढ करते रहे। उन्होंने अंतिम मर्यादा-पत्र लिखा वि.सं. १८५९ माघ शुक्ला सप्तमी को। एक आचार्य में संघ की शक्ति को केन्द्रित कर उन्होंने सुदृढ़ संगठन की नींव डाली। इससे अपने-अपने शिष्य बनाने की परम्परा का विच्छेद हो गया। भावी आचार्य के चुनाव का दायित्व भी उन्होंने वर्तमान आचार्य को सौंपा। आज तेरापंथ धर्मसंघ अनुशासित, मर्यादित और व्यवस्थित धर्मसंघ है, इसका श्रेय आचार्य भिक्षु कृत इन्हीं मर्यादाओं को है।

आचार्य भिक्षु ने अपने मौलिक चिंतन के आधार पर नये मूल्यों की स्थापना की। अहिंसा व दान-दया संबंधी उनकी व्याख्या सर्वथा वैज्ञानिक कही जा सकती है।

आचार्य भिक्षु की अहिंसा सार्वभौमिक क्षमता पर आधारित थी। बड़ों के लिए छोटों की हिंसा व पंचेन्द्रिय जीवों की सुरक्षा के लिए एकेन्द्रिय प्राणियों का हनन आचार्य भिक्षु की दृष्टि में आगम-सम्मत नहीं था।

आचार्य भिक्षु के अनुसार अध्यात्म एवं व्यवहार की भूमिका भिन्न-भिन्न होती है। उन्होंने कभी और किसी भी प्रसंग पर दोनों को एक तुला से तोलने का प्रयत्न नहीं किया। उनके अभिमत से व्यवहार व अध्यात्म को सर्वत्र एक कर देना घी और तंबाकू के सम्मिश्रण जैसा अनुपादेय है।

दान-दया के विषय में लौकिक एवं लोकोत्तर भेदरेखा प्रस्तुत कर आचार्य भिक्षु ने जैन समाज में प्रचलित मान्यता के समक्ष नया चिंतन प्रस्तुत किया। उस समय सामाजिक सम्मान का मापदण्ड दान-दया पर अवलंबित था। स्वर्गोपलब्धि और पुण्योपलब्धि की मान्यताएँ भी दान-दया के साथ जुड़ी हुई थीं। आचार्य भिक्षु ने लौकिक दान-दया की व्यवस्था को कर्त्तव्य व सहयोग बताकर मौलिक सत्य का उद्घाटन किया। साध्य-साधन के विषय में भी उनका दृष्टिकोण स्पष्ट था। उनके अभिमत से शुद्ध साधन के द्वारा ही शुद्ध साध्य की प्राप्ति संभव है। उन्होंने कहा – रक्त से सना वस्त्र कभी रक्त से शुद्ध नहीं होता, वैसे ही हिंसा प्रधान प्रवृत्ति कभी अध्यात्म के पावन लक्ष्य तक नहीं पहुंचा सकती।

आचार्य भिक्षु एक कुशल विधिवेत्ता होने के साथ-साथ एक सहज कवि और महान् साहित्यकार थे। उन्होंने राजस्थानी भाषा में लगभग अड़तीस हजार पद्यों की रचना कर जैन साहित्य को समृद्ध किया। आचार्य भिक्षु की साहित्य-रचना का प्रमुख विषय शुद्ध आचार का प्रतिपादन, तत्त्वदर्शन का विश्लेषण एवं धर्मसंघ की मौलिक मर्यादाओं का निरूपण था। उनकी रचनाओं में प्राचीन वैराग्यमय आख्यान भी निबद्ध हैं। आचार्य भिक्षु ने कभी कवि बनने का प्रयास नहीं किया और न कभी उन्होंने भाषाशास्त्र, छंदशास्त्र, अलंकारशास्त्र एवं रसशास्त्र का प्रशिक्षण ही प्राप्त किया पर उनके द्वारा रचे गए पद्यों में रस, अनुप्रास और अलंकारों के प्रयोग पाठक को मुग्ध कर देते हैं। आचार्य भिक्षु के साहित्य को पढ़कर आधुनिक विद्वान् उन्हें हेगल और काण्ट की तुला से तोलते हैं। आचार्य भिक्षु जब तक जीए, ज्योति बनकर जीए। उनके जीवन का हर पृष्ठ पुरुषार्थ की गौरवमयी गाथाओं से भरा पड़ा है। १८६० भाद्रव शुक्ला त्रयोदशी के दिन सिरियारी (मारवाड़) में उन्होंने समाधि मरण प्राप्त किया। उस समय उनकी आयु ७७ वर्ष की थी।

४.३ दिगम्बर आचार्य
(Digambar Acharyas)

४.३.१ आचार्य उमास्वामी (Acharya Umaswami)

उमास्वामी परम्परा से शैव थे। जैन धर्म की उच्च नगरी शाखा में उन्होंने दीक्षा ली। उनकी माता का नाम उमा एवं पिता का नाम स्वामी था। माता-पिता की स्मृति रूप में उनका नाम उमास्वामी प्रसिद्ध हो गया। उनकी प्रतिभा बहुत पैनी थी। वे पाँच सौ ग्रंथों के निर्माता कहलाते हैं परन्तु तत्त्वार्थसूत्र उनकी बहुत ही समृद्ध और विख्यात रचना है। तत्त्वार्थसूत्र से प्रभावित होकर कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने यहाँ तक कहा – **'उपउमास्वामी संग्रहीतार:'** अर्थात् जैन तत्त्व के संग्राहकों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)/Ladnun

में उमास्वामी से सब पीछे हैं। तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य है। तत्त्वार्थसूत्र पर उनकी स्वोपज्ञ व्याख्या तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसी पर पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि, आचार्य अकलंक ने राजवार्तिक, आचार्य विद्यानन्द ने सभाष्य तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक लिखा। कहीं-कहीं उनके नाम के साथ पूर्वसिद्ध विशेषण भी देखा जाता है जो उनके पूर्व-ज्ञान का सूचक माना जाता है। दिगम्बर उन्हें श्रुतकेवली तुल्य मानते हैं। उनका समय विक्रम की तीसरी शताब्दी के आस-पास का माना जाता है।

४.३.२ आचार्य कुन्दकुन्द (Acharya Kundkunda)

आचार्य कुन्दकुन्द का दिगम्बर परम्परा में गरिमामय स्थान है। अध्यात्म-दृष्टियों को विशेष रूप से उजागर करने का श्रेय उन्हें प्राप्त है। श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में भी उनको प्रमुख माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण उनकी उत्तरवर्ती परम्परा मूलसंघ और कुंदकुंदाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करती है। श्वेताम्बर परम्परा में जो महत्त्व पूर्वधर आचार्य स्थूलिभद्र को दिया गया, वही महत्त्व दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुंदकुंद को मिला है। जैन धर्म का सुप्रसिद्ध एक श्लोक श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य स्थूलिभद्र के नाम के साथ और दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुंदकुंद के नाम के साथ स्मरण किया जाता है। वह श्लोक इस प्रकार है –

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमप्रभु: ।
मंगलं कुंदकुंदाद्या (स्थूलिभद्राद्या) जैनधर्मोस्तु मंगलम् ॥

तीर्थंकर महावीर और गणधर गौतम के बाद दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुंदकुंद का उल्लेख उनकी महनीय महत्ता का परिचायक है।

आचार्य कुंदकुंद दक्षिण भारत के निवासी एवं वैश्यवंशज थे। उनका जन्म दक्षिण भारत के अन्तर्गत कौण्डकुंदपुर में हुआ। कुंदकुंद के पिता का नाम करमण्डू और माता का नाम श्रीमती था। कौण्डकुंदपुर निवासी करमंडू को दीर्घ प्रतीक्षा के बाद एक तपस्वी ऋषी की कृपा से पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई थी। करमण्डू का यह पुत्र जन्म-स्थान के नाम के आधार पर कुंदकुंद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जन्म स्थान का नाम कोण्डकुन्द है, उच्चारण-मधुरता के कारण कोण्डकुंद ही कुन्दकुन्द नाम में परिवर्तित हुआ।

आचार्य कुन्दकुन्द उग्रविहारी थे। वे दुर्गम घाटियों और वनों में भी निर्भीक भाव से विहरण करते थे। उनके पास तप का तेज और साधना का बल था। उनका चिन्तन अध्यात्मप्रधान था।

कुंदकुंद के पांच नाम बताये गये हैं– १. पद्मनंदी, २. कुंदकुंद, ३. वक्रग्रीव, ४. एलक (एलाचार्य), ५. गृद्धपिच्छ।

कुंदकुंद को तीव्रतपश्चरण के परिणामस्वरूप चारणलब्धि प्राप्त थी। दर्शनसार में प्राप्त उल्लेखानुसार आचार्य कुन्दकुन्द को महाविदेह में सीमंधर स्वामी से ज्ञानोपलब्धि हुई थी। आचार्य कुंदकुंद वास्तव में अध्यात्मदृष्टियों के प्रमुख व्याख्याकार थे। उनकी वाणी ने अध्यात्म के नए क्षितिज का उद्घाटन किया और आगमिक तत्त्वों को तर्क-सुसंगत परिधान दिया।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में केवली-कवलाहार, सचेलकता, स्त्री-मुक्ति आदि श्वेताम्बर मान्यताओं का निरसन है। अत: कुन्दकुन्द का समय दिगम्बर और श्वेताम्बर संघ की स्थापना हो जाने के बाद का अनुमानित होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने ८४ प्राभृतों की रचना की। उनमें से आज केवल बारह प्राभृत उपलब्ध हैं। उनमें दर्शनप्राभृत, चारित्रप्राभृत तथा बोधप्राभृत मुख्य हैं। इनके अन्य प्रमुख ग्रन्थ हैं – समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय आदि।

कुछ विद्वान् इनका कार्यकाल विक्रम की प्रथम शताब्दी मानते हैं किन्तु कुंदकुंद के ग्रंथों में दार्शनिक रूप की जो विवेचना है, वह उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगम में नहीं है। सप्तभंगी का रूप भी आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों में अधिक विकसित है। उत्तरवर्ती दार्शनिक धाराओं में भी कुन्दकुन्द के ग्रंथों में उपलब्ध सप्तभंगी का रूप आधार बना है। अत: इन बिन्दुओं के आधार पर प्रतीत होता है कि आचार्य कुंदकुंद वाचक उमास्वाति के बाद के विद्वान् हैं।

४.३.३ आचार्य वीरसेन (Acharya Veersena)

आचार्य वीरसेन दिगम्बर परम्परा के एक समर्थ और विद्वान् आचार्य माने जाते हैं। ज्योतिष, व्याकरण, प्रमाणशास्त्र, छन्दशास्त्र आदि का उन्हें गम्भीर ज्ञान था।

षट्खण्डागम दिगम्बर परम्परा में आगम तुल्य माना जाने वाला एक विशाल और गम्भीर ग्रन्थ है। आचार्य वीरसेन ने उस ग्रन्थ पर प्राकृत-संस्कृत मिश्रित ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवला नाम की एक विशाल टीका लिखी। षट्खण्डागम पर लिखी जाने वाली टीकाओं में यह टीका सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। उत्तरवर्ती सभी विद्वानों ने इसका अपने ग्रंथों में उल्लेख किया है।

आचार्य वीरसेन ने कषाय पाहुड पर जयधवला नाम की टीका भी लिखी जो बीस हजार श्लोक प्रमाण है। संयोग की बात थी वे उस कार्य को पूर्ण किये बिना ही दिवंगत हो गये।

राष्ट्रकूटनरेश अमोघवर्ष प्रथम के समय आचार्य वीरसेन ने इन टीकाओं का निर्माण किया था। अमोघवर्ष का नाम धवल अतिशय-धवला भी था। लगता है इसीलिए आचार्य ने अपनी टीकाओं का नाम धवला तथा जय धवला रखा। इनका समय विक्रम की नौवीं शताब्दी माना जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

४.३.४ आचार्य अकलंक (Acharya Akalanka)

आचार्य अकलंक का जन्म कर्नाटक प्रान्त के मान्यखेट नगरी के राजा शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम के घर हुआ था। इनकी माता का नाम जिनमती था। 'भट्ट' इनका पद था। इनके भाई का नाम 'निष्कलंक' था। एक बार दोनों भाई बौद्ध तर्कशास्त्र का अभ्यास करने के लिए एक बौद्धमठ में गये। वहां इन्होंने बौद्ध तर्कशास्त्र का गहन अध्ययन किया। उन दिनों जैन और बौद्धों में संघर्ष चल रहा था। कुछ दिनों बाद इनके जैन होने का पता लगा। विरोध का आभास हुआ। वे वहां से निकले, किन्तु निष्कलंक मारे गये, अकलंक बच निकले। उन्होंने आचार्य पद प्राप्त कर कलिंग नरेश हिमशीतल की सभा में बौद्धों से वाद-विवाद किया। विरोध पक्ष वाले एक घड़े में तारादेवी की स्थापना करते और उसके प्रभाव से वे वाद में अजेय बन जाते। अकलंक ने यह रहस्य जान लिया। उन्होंने अपने शासन-देवता की आराधना की और घड़े को फोड़ बौद्धों को पराजित किया।

आचार्य अकलंक जैन न्याय के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनके समय में ही जैन न्याय को व्यवस्थित रूप मिला। उत्तरकालीन ग्रन्थकार अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दि आदि ने अकलंक द्वारा प्रस्थापित जैन न्याय की पद्धति का अनुसरण या विस्तार किया है। इनके मुख्य ग्रन्थ हैं – तत्त्वार्थराजवार्तिक सभाष्य, लघीयस्त्रयी, अष्टशती आदि।

आचार्य अकलंक आचार्य हरिभद्र के समकालीन थे। इनका समय विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी है। अनेक राजा लोग इनके भक्त थे। आचार्य समन्तभद्र, वीरसेन, माणिक्यनन्दी, देवनन्दी, पूज्यपाद आदि अनेक आचार्यों ने इनकी परम्परा को आगे बढ़ाया है।

४.४ बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. आचार्य शय्यंभव के पुत्र का नाम क्या था?

२. कौन-से आचार्य कलिकालसर्वज्ञ के नाम से प्रसिद्ध हैं?

३. तेरापंथ के प्रवर्तक कौनसे आचार्य थे?

४. तत्त्वार्थ सूत्र किसकी रचना है?

५. आचार्य कुन्दकुन्द के प्रमुख ग्रंथ कौन-से हैं?

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. आचार्य हरिभद्र और आचार्य भिक्षु के जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालें।

२. किन्हीं तीन दिगम्बर आचार्यों के जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग-३

जैन साहित्य
(Jain Literature)

संवर्ग प्रस्तावना

धार्मिक आस्था एवं धर्म के प्रचार-प्रसार में उसके मौलिक एवं आधारभूत वाङ्मय का विशिष्ट महत्त्व होता है। यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक धर्म में उनके पवित्र ग्रन्थ हैं, जिनमें उस धर्म के मूल सिद्धान्त, आदेश और उपदेश सन्निहित हैं। वैदिक परम्परा में 'वेद', बौद्धों में 'त्रिपिटक', ईसाइयों में 'बाइबिल', पारसियों में 'अवेस्ता' और मुस्लिमों में 'कुरान शरीफ' ऐसे ही पवित्र ग्रंथ हैं। इसी क्रम में जैन धर्मावलम्बियों के धर्मग्रंथों को 'आगम कहा जाता है। जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की वाणी इन्हीं आगम ग्रंथों में आज भी सुरक्षित है।

'जैन साहित्य' इस इकाई में मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है –

१. आगम वाचना और आगम विभाजन।

२. आगमों का व्याख्या साहित्य एवं उत्तरवर्ती साहित्य।

आगम वाचना और आगम विभाजन
(The Canonical Assembly and Devison of Āgamas)

इकाई की रूपरेखा

१.० उद्देश्य
१.१ प्रस्तावना
१.२ आगम का अर्थ
१.३ आगमों की भाषा
१.४ आगम-वाचना
  १.४.१ प्रथम वाचना
  १.४.२ द्वितीय वाचना
  १.४.३ तृतीय वाचना
१.५ आगम विच्छेद का क्रम
१.६ लेखन और लेख सामग्री
१.७ लेखन की प्रतिक्रिया
१.८ आगम-विभाग
१.९ अंग प्रविष्ट (द्वादशांग)
१.१० अंगबाह्य (उपांग)
१.११ मूलसूत्र
१.१२ छेदसूत्र
१.१३ आवश्यक सूत्र
१.१४ बोध प्रश्न

१.० उद्देश्य

'आगम वाचना और आगम विभाजन' इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

* आगम किसे कहते हैं, जान सकेंगे।
* आगमों को व्यवस्थित करने के लिए हुई तीन वाचनाओं से परिचित हो सकेंगे।
* प्राचीन समय में प्रयुक्त होने वाली लेखन-सामग्री के विषय में जान सकेंगे।
* आगमन-विभाजन और आगमों की विषय-वस्तु से अवगत हो सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

१.१ प्रस्तावना

इस इकाई में जैन आगमों का विवेचन किया जा रहा है। वीतराग पुरुष की वाणी आगम कहलाती है। जिन ग्रन्थों में वह वाणी गुम्फित की जाती है, उपचार से उस ग्रन्थ को भी आगम कहा जाता है। आगमों की भाषा अर्धमागधी है। प्रारम्भ में गुरु-मुख से सुनकर आगमों को याद करने की परम्परा थी। आगमों को व्यवस्थित करने के लिए तीन आगम वाचनाएँ हुई। भगवान महावीर के एक हजार वर्ष बाद आगम लिपिबद्ध किये गए। आगमों के मुख्य विभाजन हैं – अंगप्रविष्ट, अंगबाह्य, मूलसूत्र, छेदसूत्र, आवश्यक सूत्र। जिनका विवेचन इस इकाई में किया जा रहा है।

आगम (Aagama)

१.२ आगम का अर्थ (Meaning of Aagama)

आगम का अर्थ है – आप्त पुरुषों का उपदेश। **'आप्तोपदेश: आगम:',** जो यथार्थ को जानता है तथा यथार्थ का उपदेश देता है, वह आप्त होता है, उसकी वाणी आगम है। आगम शब्द 'आ' उपसर्ग एवं 'गम्' धातु से निर्मित हुआ है। जिसमें 'आ' का अर्थ पूर्ण और 'गम' का अर्थ गति या प्राप्ति है। गति अर्थ वाली धातुओं का ज्ञान अर्थ भी होता है अत: वह ग्रन्थ या शास्त्र, जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान प्राप्त हो, वह आगम है।

१.३ आगमों की भाषा (The Language of the Aagamas)

जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी है। आगम साहित्य के अनुसार तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में उपदेश देते थे। यह उस समय की जनभाषा थी। अर्धमागधी प्राकृत भाषा का ही एक रूप है। मगध के आधे भाग में बोली जाने के कारण यह भाषा अर्धमागधी कहलाती है। इसमें मागधी के साथ अन्य अठारह देशी भाषाओं के लक्षण मिश्रित हैं, इसलिए भी इसे अर्धमागधी कहते हैं।

१.४ आगम-वाचना (The Canonical Assembly)

जैन साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम है। विशेषावश्यक भाष्य में आगम के अनेक एकार्थक शब्द उपलब्ध होते हैं – सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, उपदेश। जब तक लेखन परम्परा का विकास नहीं हुआ था तब तक ज्ञान का एक मुख्य आधार था – श्रवण। शिष्य अपने गुरु के मुख से सुनकर ज्ञान ग्रहण करता था। इस प्रकार श्रुत परम्परा पर आधारित इस ज्ञान का एक नाम था – श्रुत। श्रुत का अर्थ है – सुना हुआ। जो गुरु-मुख से सुना गया हो, वह श्रुत है। भगवान महावीर के उपदेशों को उनके शिष्यों ने और उनसे उनके शिष्यों ने श्रवण किया। श्रुत की यह परम्परा बहुत लम्बे समय तक चलती रही, जो सम्पूर्ण श्रुत को धारण कर लेते थे, वे श्रुतकेवली कहलाते थे। भगवान महावीर की परम्परा में अन्तिम श्रुतकेवली थे – आचार्य भद्रबाहु।

आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् श्रुत की धारा क्षीण होने लगी। जब आचार्यों ने देखा कि काल के प्रभाव से स्मृति का ह्रास हो रहा है और स्मृति का ह्रास होने से श्रुत का ह्रास हो रहा है, तब जैनाचार्यों ने एकत्रित होकर जैन श्रुत को व्यवस्थित किया। इस प्रकार श्रुत को व्यवस्थित करने के लिए तीन आगम वाचनाएँ हुईं।

१.४.१ प्रथम वाचना (First Canonical Assembly)

प्रथम वाचना भगवान महावीर के निर्वाण से करीब १६० वर्ष बाद पाटलिपुत्र में हुई। उस समय श्रमणसंघ का प्रमुख विहार क्षेत्र मगध था, जिसे हम आज बिहार प्रदेश के नाम से जानते हैं। मगध राज्य में बारह वर्षों तक लगातार दुष्काल पड़ा। जिसमें अनेक श्रुतधर मुनि दिवंगत हो गए, अनेक रुग्ण हो गए। अनेकों की स्मृति क्षीण हो गई। अनेक जैन श्रमण विहार कर अन्यत्र चले गये, फलत: श्रुत की धारा छिन्न-भिन्न होने लगी।

दुष्काल की समाप्ति पर विच्छिन्न श्रुत को संकलित करने के लिए श्रमणसंघ के आचार्य पाटलिपुत्र में एकत्रित हुए और आचार्य स्थूलिभद्र के नेतृत्व में यह वाचना संपन्न हुई। उनके निर्देशन में श्रुतधर श्रमणों ने मिलकर ग्यारह अंगों का संकलन किया तथा उसे व्यवस्थित किया। बारहवां अंग दृष्टिवाद के ज्ञाता एकमात्र आचार्य भद्रबाहु बचे थे। वे नेपाल में महाप्राण ध्यान की साधना में संलग्न थे। अत: संघ ने स्थूलिभद्र को अनेक साधुओं के साथ दृष्टिवाद की वाचना लेने के लिए भद्रबाहु के पास भेजा। भद्रबाहु ने वाचना देना प्रारम्भ किया। दृष्टिवाद का एक विभाग है – पूर्वगत। उसमें चौदह पूर्व होते हैं। उनका परिमाण बहुत विशाल तथा ज्ञान अत्यन्त दुरूह होता है। बौद्धिक क्षमता एवं धारणाशक्ति की न्यूनता के कारण सब मुनियों का साहस टूट गया। स्थूलिभद्र के अतिरिक्त कोई भी मुनि अध्ययन के लिए नहीं टिक सका। स्थूलिभद्र ने अपने अध्ययन का क्रम चालू रखा। दस पूर्वों का सूत्रात्मक तथा अर्थात्मक ज्ञान हो चुका था। अध्ययन चल ही रहा था। इस बीच एक घटना घटी। उनकी बहिनें जो साध्वियाँ थी, श्रमण भाई की श्रुताराधना देखने के लिए आई। बहिनों को चमत्कार दिखाने हेतु विद्या-बल से उन्होंने सिंह का रूप बना लिया। बहिनें सिंह को देख भय से ठिठक गई। स्थूलिभद्र तत्क्षण असली रूप में आ गये। आचार्य भद्रबाहु विद्या के द्वारा बाह्य चमत्कार दिखाने के पक्ष में नहीं थे, उन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि बहिनों को चमत्कार दिखाने के लिए स्थूलिभद्र ने शक्ति का प्रदर्शन किया है तो वे उन पर रुष्ट हो गये और प्रमाद के प्रायश्चित्त स्वरूप वाचना देना बन्द कर दिया। स्थूलिभद्र ने क्षमा मांगी। बहुत अनुनय-विनय किया तब उन्होंने शेष चार पूर्वों का ज्ञान केवल सूत्र रूप में दिया, अर्थ नहीं बतलाया। स्थूलिभद्र को चतुर्दश पूर्वों का पाठ तो ज्ञात हो गया, पर वे अर्थ दस पूर्वों का ही जान पाये अत: उन्हें सूत्र की दृष्टि से चतुर्दस पूर्वधर और अर्थ की दृष्टि से दस पूर्वधर कहा जा सकता है। अर्थ की दृष्टि से भद्रबाहु के बाद चार पूर्वों का विच्छेद हो गया। इस प्रकार प्रथम वाचना पाटलिपुत्र में सम्पन्न हुई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

१.४.२ द्वितीय वाचना (Second Canonical Assembly)

आगम संकलन का दूसरा प्रयत्न वीर निर्वाण के ८२७ और ८४० के बीच हुआ। प्रथम आगम वाचना में जो ग्यारह अंग संकलित किये गये, वे गुरु-शिष्य क्रम से शताब्दियों तक चलते रहे। कहा जाता है, फिर बारह वर्षों का भयानक दुर्भिक्ष पड़ा, जिसके कारण अनेक श्रमण काल-कवलित हो गए। नंदी चूर्णि में इस सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है – ग्रहण, मनन, अनुप्रेक्षा आदि के अभाव में श्रुत नष्ट हो गया।

दुर्भिक्ष का समय बीता। जो श्रमण बच पाये थे उन्हें श्रुत के संरक्षण की चिन्ता हुई। उस समय आचार्य स्कन्दिल युग-प्रधान थे। उनके नेतृत्व में मथुरा में आगम-वाचना का आयोजन हुआ। आगमवेत्ता मुनि दूर-दूर से आये। जिसको जो याद था उसके आधार पर पुन: संकलन किया गया और उसे व्यवस्थित रूप दिया गया। यह वाचना मथुरा में हुई, अत: इसे माथुरी वाचना कहा जाता है।

लगभग माथुरी वाचना के समय ही वल्लभी-सौराष्ट्र में नागार्जुन सूरि के नेतृत्व में एक मुनि-सम्मेलन आयोजित हुआ और विस्मृत श्रुत को व्यवस्थित रूप दिया गया। नागार्जुन सूरि ने समागत साधुओं को वाचना दी, अत: यह नागार्जुन वाचना कहलाती है। वल्लभ में सम्पन्न होने के कारण इसे वल्लभी वाचना के नाम से भी जाना जाता है।

१.४.३ तृतीय वाचना (Third Canonical Assembly)

माथुरी और वल्लभी वाचना के १५९ वर्ष पश्चात् यानी वीर निर्वाण के ९८०वें वर्ष में वल्लभी में पुन: उस युग के महान् आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में तीसरी वाचना आयोजित हुई। आर्य देवर्द्धिगणी समयज्ञ थे। उन्होंने देखा, अनुभव किया कि अब समय बदल रहा है। स्मरणशक्ति दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है। समय रहते यदि श्रुत की सुरक्षा का उपाय नहीं खोजा गया तो उसे बचा पाना कठिन होगा। आगम-साहित्य को स्थायित्व देने की दृष्टि से उनके निर्देशन में आगम-लेखन का कार्य प्रारम्भ हुआ। उस समय माथुरी और वल्लभी दोनों ही वाचनाएँ उनके समक्ष थीं। दोनों परम्पराओं के प्रतिनिधि आचार्य एवं मुनिजन भी वहाँ उपस्थित थे। देवर्द्धिगणी ने माथुरी वाचना को प्रमुखता प्रदान की और वल्लभी वाचना को पाठान्तर के रूप में स्वीकार किया। माथुरी वाचना के समय भी आगम ताड़-पत्रों पर लिखे गये थे। उन्हें सुव्यवस्थित करने का काम देवर्द्धिगणी ने किया। जैसा कि कहा है –

बलहीपुरम्मि नयरे, देवड्ढिय महेण समण-संघेणं।
पुत्थइ आगमु तिहिओ, नवसय-असी सयाओ वीराओ॥

इससे स्पष्ट होता है कि श्रमण संघ ने देवर्द्धिगणी के निर्देशन में वीर निर्वाण ९८० में आगमों को पुस्तकारूढ़ किया था। आज जैन शासन में जो आगम-निधि सुरक्षित है, उसका श्रेय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के प्रयत्नों को ही जाता है। इस प्रकार देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने सर्वप्रथम आगमों को पुस्तकारूढ़ किया और संघ के समक्ष उसका वाचन किया।

वर्तमान में युगप्रधान वाचना-प्रमुख गणाधिपति तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ के नेतृत्व में आगम-संपादन का अद्भुत कार्य हो रहा है। यह भी अपनी कोटि की अपूर्व वाचना है। उनके निर्देशन में अनेक प्रबुद्ध साधु-साध्वियों के श्रम से संपादित, निष्पक्ष दृष्टि से निर्धारित शुद्ध पाठ विस्तृत पाद-टिप्पणों के साथ जैन विश्व भारती से प्रकाशित हो रहा है। अनेक आगमों के संस्कृत रूपान्तरण तथा हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद भी टिप्पण सहित प्रकाशित हो चुके हैं। आगम-संपादन के इस महान् अनुष्ठान को निर्विवाद रूप से आगम-वाचना कहा जा सकता है।

१.५ आगम-विच्छेद का क्रम

प्रारम्भ में श्वेताम्बर और दिगम्बर में कोई मतभेद नहीं था। दोनों ही भगवान महावीर के द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुयायी थे। महावीर के पश्चात् गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी को दोनों ही सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। दिगम्बर मान्यता के अनुसार वीर निर्वाण के ६२ वर्ष तक केवलज्ञान रहा। अंतिम केवली जम्बूस्वामी हुए। उनके पश्चात् १०० वर्षों तक चौदह पूर्वों का ज्ञान रहा। अन्तिम चतुर्दसपूर्वी भद्रबाहु हुए। उनके पश्चात् १८३ वर्ष तक दसपूर्व रहे। धर्मसेन अंतिम दसपूर्वी थे। उनके पश्चात् ग्यारह अंगों की परम्परा २२० वर्ष तक चली। उनके अंतिम अध्येता ध्रुवसेन हुए। उनके पश्चात् एक अंग (आचारांग) का अध्ययन ११८ वर्ष तक चला। इसके अन्तिम अधिकारी लोहार्य हुए। वीर-निर्वाण ६८३ (विक्रम संवत् २१३) के पश्चात् आगम साहित्य सर्वथा लुप्त हो गया।

केवलज्ञान के लोप की मान्यता में दोनों सम्प्रदाय एकमत हैं। चार पूर्वों का लोप भद्रबाहु के पश्चात् हुआ, इसमें भी ऐक्य है। केवल काल की दृष्टि से आठ वर्ष का अन्तर है। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार उनका लोप वीर निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ और दिगम्बर मान्यता के अनुसार १६२ वर्ष पश्चात्। यहाँ तक दोनों परम्पराएँ आस-पास चलती हैं। इसके पश्चात् इनमें दूरी बढ़ती चली जाती है और दिगम्बर वीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् आगमों का पूर्ण लोप स्वीकार करते हैं।

श्वेताम्बर मान्यता है कि आगम-साहित्य का मौलिक स्वरूप बड़े परिमाण में लुप्त हो गया, किन्तु पूर्ण रूप में नहीं। अब भी वह शेष है। अंगों और उपांगों की जो तीन बार वाचना हुई, उसमें मौलिक रूप अवश्य ही बदला है, फिर भी अधिकांश भाग मौलिक है। भाषा और रचनाशैली की दृष्टि से वह प्राचीन है। आज के भाषाशास्त्री उसे ढ़ाई हजार वर्ष प्राचीन बतलाते हैं। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा आज भी उन्हें सुरक्षित मानती है। उनके अनुसार ग्यारह अंग आज भी उपलब्ध है, बारहवां अंग दृष्टिवाद उपलब्ध नहीं है, दिगम्बर परम्परा के अनुसार द्वादशांग आगम का उच्छेद हो गया। केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश शेष बचा है, जो षट्खण्डागम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के रूप में विद्यमान है।

१.६ लेखन और लेख सामग्री (Writing and the Writing Material)

जैन साहित्य के अनुसार लिपि का इतिहास प्रागैतिहासिक है। भगवान ऋषभनाथ ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपियाँ सिखलाई थीं, ऐसा उल्लेख विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति, त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र आदि में मिलता है। जैन सूत्रों में वर्णित ७२ कलाओं में लेख-कला का पहला स्थान है। भगवान ऋषभ ने ७२ कलाओं का उपदेश दिया तथा असि, मसि और कृषि – ये तीन व्यापार चलाए। इनमें आये लेख-कला और मसि शब्द लिखने की परम्परा को कर्म-युग के प्रारम्भ तक ले जाते हैं। नन्दीसूत्र में तीन प्रकार का अक्षरश्रुत बतलाया है, जिनमें पहला संज्ञाक्षर है। जिसका अर्थ है – अक्षर की आकृति-लिपि।

प्रागैतिहासिक काल में लिखने की सामग्री कैसी थी, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। राजप्रश्नीय सूत्र में पुस्तक रत्न का वर्णन करते हुए कम्बिका (कामी) मोंरा, गांठ, लिप्यासन (मषिपात्र), छंदन (ढक्कन), सांकली, मषि और लेखनी की लेख सामग्री के रूप में चर्चा की गई है।

भगवान महावीर का पाठशाला में लिखने-पढ़ने की घटना भी लेखन-प्रथा का एक प्रमाण है। वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी में आक्रान्ता सम्राट सिकन्दर के सेनापति निआर्क्स ने लिखा है – 'भारतवासी लोग कागज बनाते थे।' ईस्वी के दूसरे शतक में ताड़-पत्र और चौथे में भोज-पत्र लिखने के व्यवहार में लाये जाते थे। वर्तमान में उपलब्ध लिखित ग्रंथों में ई.सं. पांचवीं में लिखे हुए पत्र मिलते हैं। इन तथ्यों के आधार पर हम जान सकते हैं कि भारत में लिखने की प्रथा प्राचीनतम है। फिर भी हमें यह मानना होगा कि भारतीय वाङ्मय लम्बे समय तक कण्ठस्थ परम्परा से ही सुरक्षित रहा है। जैन, बौद्ध और वैदिक – तीनों परम्पराओं के शिष्य उत्तराधिकार के रूप में अपने-अपने आचार्यों द्वारा ज्ञान का अक्षय-कोश पाते थे।

१.७ लेखन की प्रतिक्रिया (The Reaction of Writing)

आगमों के लिपिबद्ध होने के उपरान्त भी एक विचारधारा ऐसी रही, जो यह मानती थी कि साधु पुस्तक लिख नहीं सकते और अपने साथ रख भी नहीं सकते। पुस्तक लिखने और रखने में दोष बताते हुए लिखा है –

१. अक्षर लिखने में कुन्थु आदि त्रस जीवों की हिंसा होती है, इसलिए पुस्तक लिखना संयम-विराधना का हेतु है।

२. पुस्तकों को एक गांव से दूसरे गांव ले जाते समय कन्धे छिल जाते हैं, व्रण हो जाते हैं।

३. पुस्तकों के छिद्रों की ठीक तरह से प्रतिलेखना (सार-संभाल) नहीं हो सकती।

४. मार्ग में भार बढ़ जाता है।

५. वे कुन्थु आदि जीवों के आश्रय होने के कारण अधिकरण हैं अथवा चोर आदि के द्वारा चुराये जाने पर अधिकरण हो जाते हैं।

६. तीर्थंकर ने पुस्तक नामक उपधि रखने की आज्ञा नहीं दी है।

७. पुस्तक पास में होने से सूत्र-गुणन में प्रमाद होता है।

साधु जितनी बार पुस्तकों को बाँधते हैं, खोलते हैं और अक्षर लिखते हैं उन्हें उतनी ही बार प्रायश्चित्त आता है और आज्ञा-लोप आदि दोष लगते हैं। आचार्य भिक्षु के समय भी ऐसी विचारधारा थी। उन्होंने इसका खण्डन भी किया।

१.८ आगम-विभाग (The Classification of the Aagamas)

आगम भगवान की वाणी है। भगवान सर्वज्ञ होते हैं। वे जिस सत्य का प्रतिपादन करते हैं, वह प्रकीर्ण रूप में होता है अत: वह अर्थागम कहलाता है। उन उपदेशों के आधार पर उनके प्रमुख शिष्य गणधर सूत्ररूप में संकलन या संग्रथन करते हैं, वह सूत्रागम कहलाता है। इस प्रकार आगम के दो विभाग हो जाते हैं – अर्थागम और सूत्रागम। इसीलिए कहा जाता है – **अत्थं भासई अरहा सुत्तं गुप्फंति गणहरा।** गणधरों ने सूत्र रूप में जो रचना की उसके मौलिक भाग बारह हुए अत: इसे द्वादशांगी भी कहा जाता है। ये गणी (आचार्यों) के लिए निधि स्वरूप होते हैं अत: इन्हें गणिपिटक भी कहा जाता है।

जैन आगमों को प्रणेता की दृष्टि से दो भागों में बांटा जा सकता है – अंग-प्रविष्ट और अंगबाह्य। इन्हें अंग और उपांग भी कहा जाता है। गौतम आदि गणधरों द्वारा रचित श्रुत को द्वादशांग या अंगप्रविष्ट कहा जाता है तथा भद्रबाहु आदि स्थविर – वृद्ध आचार्यों द्वारा रचित आगमों को अंगबाह्य कहा जाता है। आगमों की सम्पूर्ण संख्या के विषय में मतभेद पाया जाता है। कुछ आचार्य आगमों की संख्या ८४, कुछ ४५ तो कुछ ३२ मानते हैं। श्वेताम्बर स्थानकवासी और तेरापंथी ३२ आगम मानते हैं। जो पाँच भागों में विभक्त हैं –

१. अंग – ११ २. उपांग – १२ ३. छेद – ४ ४. मूल – ४ ५. आवश्यक – १

१.९ अंगप्रविष्ट (द्वादशांग) (Primary Canons)

भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों ने जो साहित्य रचा, वह अंगप्रविष्ट कहलाता है। इसका मुख्य आधार है त्रिपदी – उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। गणधर प्रश्न करते हैं और तीर्थंकर त्रिपदी के उपदेश से उन्हें समाधान प्रदान करते हैं। इस प्रकार रचित इस द्वादशांगी का स्वरूप सभी तीर्थंकरों के समक्ष नियत होता है।

प्रश्न होता है कि इन्हें अंग नाम से क्यों अभिहित किया गया? इसका उत्तर यह है कि श्रुत की एक पुरुष के रूप में कल्पना की गई है। जिस प्रकार एक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पुरुष के अंग होते हैं, उसी प्रकार श्रुतपुरुष के अंगों के रूप में बारह आगमों को स्वीकार किया गया है। कहा गया है – श्रुतपुरुष के पादद्वय, जंघाद्वय, उरुद्वय, गात्रद्वय – देह का अग्रवर्ती तथा पृष्ठवर्ती भाग, बाहुद्वय, ग्रीवा तथा मस्तक – ये बारह अंग हैं। इनमें जो प्रविष्ट हैं, अंगत्वेन अवस्थित हैं, वे आगम श्रुत-पुरुष के अंग हैं। बारहवां अंग दृष्टिवाद विच्छिन्न हो गया है। इस समय ग्यारह अंग प्राप्त हैं।

बारह अंगों के नाम और उनका विवेचन इस प्रकार है –

१. आचारांग	२. सूत्रकृतांग	३. स्थानांग	४. समवायांग
५. व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती)	६. ज्ञाताधर्मकथा	७. उपासकदशा	८. अन्तकृतदशा
९. अनुत्तरोपपातिक दशा	१०. प्रश्नव्याकरण	११. विपाकश्रुत	१२. दृष्टिवाद

१.९.१ आचारांग (Aacharanga)

द्वादशांग में आचारांग का प्रथम स्थान है। यह दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। इसमें श्रमण के आचार का वर्णन किया गया है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के नवें अध्ययन में भगवान महावीर की तपस्या का बड़ा मार्मिक वर्णन पाया जाता है।

१.९.२ सूत्रकृतांग (Sutrakritanga)

प्रस्तुत आगम भी दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। इसमें जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य मतों एवं वादों का प्ररूपण किया गया है, जैसे – क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद आदि।

१.९.३ स्थानांग (Sthananga)

प्रस्तुत आगम दस अध्यायों में विभाजित है। प्रत्येक अध्याय में जैन सिद्धान्तानुसार वस्तु संख्या गिनाई गई है। जैसे – प्रथम अध्याय में बताया गया है – एक आत्मा, एक दर्शन, एक चारित्र, एक परमाणु आदि। इसी प्रकार दूसरे अध्याय में दो-दो वस्तुओं का विवेचन है, जैसे क्रिया दो हैं – जीव क्रिया, अजीव क्रिया। राशि दो हैं – जीव राशि, अजीव राशि आदि। इसी प्रकार दसवें अध्याय में इसी क्रम से वस्तुभेद दस तक बताये गये हैं।

१.९.४ समवायांग (Samvayanga)

प्रस्तुत आगम का वर्णन क्रम स्थानांग जैसा है। स्थानांग में एक से लेकर दस तक संज्ञाएँ पहुँचती हैं, जबकि इसमें वे संज्ञाएँ एक से आरम्भ होकर कोटानुकोटी तक जाती हैं।

१.९.५ व्याख्याप्रज्ञप्ति (Vyakhyapragyapti)

जीव-अजीव की विस्तृत व्याख्या होने के कारण इसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहा जाता है। इसका दूसरा नाम भगवती भी प्रचलित है। इसमें गौतम द्वारा महावीर से पूछे गये ३६००० प्रश्नों की व्याख्या है। विविध विषयों का विवेचन होने के कारण इसे जैन ज्ञान का विश्वकोष (Encyclopaedia) कहा जा सकता है।

१.९.६ ज्ञाताधर्मकथा (Gyatadharmakatha)

यह आगम दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। इसमें अनेक ज्ञातों – उदाहरणों के द्वारा धर्म का कथन किया गया है अत: इसे ज्ञाताधर्मकथा कहते हैं।

१.९.७ उपासकदशा (Upaasak-Dasha)

उपासक का अर्थ श्रावक तथा दशा का अर्थ उनकी क्रिया-कलाप आदि अवस्थाओं से है। इसमें दस अध्याय हैं, जिसमें भगवान महावीर के प्रमुख आनन्द आदि दस श्रावकों का विवेचन है। इसमें श्रमणोपासकों के जीवन चरित्र के माध्यम से अणुव्रत, गुणव्रत आदि धर्मविधाओं का सम्यक् निरूपण किया गया है।

१.९.८ अन्तकृत्दशा (Antakrit-Dasha)

जिन महापुरुषों ने घोर तपस्या तथा आत्म-साधना के द्वारा निर्वाण प्राप्त कर, जन्म-मरण की परम्परा का अन्त किया, उन्हें अन्तकृत् कहते हैं। उन अर्हतों का वर्णन इस आगम में होने के कारण इसका नाम अन्तकृत्दशा है।

१.९.९ अनुत्तरोपपातिकदशा (Anuttaropapatik-Dasha)

प्रस्तुत आगम में ऐसे महापुरुषों का आख्यान है, जिन्होंने साधना के द्वारा समाधि मरण को प्राप्त किया और मरकर अनुत्तरविमान में जन्म ग्रहण किया। वहां से पुन: इस मनुष्यभव में आकर वे मोक्ष को प्राप्त करेंगे। अनुत्तरविमान में जन्म लेने वाले महापुरुषों की अवस्था का विवेचन होने के कारण इसे अनुत्तरोपपातिक दशा कहते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

१.९.१० प्रश्नव्याकरण (Prashna Vyakaran)

प्रस्तुत सूत्र दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में पांच आश्रव – मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग का वर्णन है तथा दूसरे खण्ड में पांच संवर – सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग का वर्णन है।

१.९.११ विपाकश्रुत (Vipaakshruta)

प्रस्तुत आगम भी दो श्रुत-स्कन्धों में विभक्त है। पहला श्रुतस्कन्ध दु:खविपाक विषयक है और दूसरा सुखविपाक विषयक है। प्रत्येक में दस-दस अध्याय हैं, जिनमें जीव द्वारा आचरित कर्मों के अनुसार होने वाले दुखात्मक और सुखात्मक फलों का विश्लेषण है।

१.९.१२ दृष्टिवाद (Drishtivada)

प्रस्तुत आगम वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। इसके पांच विभाग हैं – परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। इनमें सर्वभावों का वर्णन किया गया है। दृष्टिवाद का एक नाम भूतवाद भी है। इसके पूर्वगत नामक विभाग के चौदह विभाग हैं, जिन्हें पूर्व कहा जाता है।

१.९.१३ पूर्व (Poorva)

जैन परम्परा के अनुसार श्रुतज्ञान (शब्द ज्ञान) का अक्षयकोष 'पूर्व' है। इसकी रचना के विषय में सब एकमत नहीं है। कुछ आचार्यों के अनुसार 'पूर्व' द्वादशांगी से पूर्व रचे गये थे, इसलिए इसका नाम 'पूर्व' रखा गया। अन्य आचार्यों का अभिमत यह है कि 'पूर्व' भगवान पार्श्व की परम्परा की श्रुत-राशि है। यह भगवान महावीर से पूर्ववर्ती है, अत: इसे पूर्व कहा गया।

द्वादशांगी के बारहवें भाग का नाम दृष्टिवाद है। वह पांच भागों में विभक्त है – १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका। चतुर्थ विभाग पूर्वगत में चौदह पूर्वों का समावेश माना जाता है। उसका परिमाण बहुत विशाल था, अत: ऐसा माना जाता है कि उसे शब्दरूप में समग्रतया लिख पाना संभव नहीं था। हो सकता है उसे अंशरूप में लिपिबद्ध किया हो। पूर्वों में सारा श्रुत समा जाता है। उसकी भाषा संस्कृत मानी जाती है। इनका विषय भी अत्यन्त गहन था। साधारण बुद्धि वाले उसे नहीं पढ़ सकते थे। अत: अल्पमति वाले लोगों के लिए प्राकृत भाषा में द्वादशांगी रची गई।

कहा भी है –

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञै:, सिद्धान्त: प्राकृते कृत:॥

अर्थात् बालक, स्त्री, मंदबुद्धि, मूर्ख एवं चारित्र की आकांक्षा वाले लोगों पर अनुग्रह करने के लिए सिद्धान्त (आगम) को प्राकृत में लिखा गया।

चौदह पूर्वों के नाम इस प्रकार मिलते हैं –

१. उत्पाद पूर्व	२. अग्रायणीय पूर्व	३. वीर्यप्रवाद पूर्व	४. अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व	५. ज्ञानप्रवाद पूर्व
६. सत्यप्रवाद पूर्व	७. आत्मप्रवाद पूर्व	८. ज्ञानप्रवाद पूर्व	९. प्रत्याख्यान पूर्व	१०. विद्यानुप्रवाद पूर्व
११. अवन्ध्य पूर्व	१२. प्राणायुप्रवाद पूर्व	१३. क्रियाप्रवाद पूर्व	१४. लोकबिन्दुसार पूर्व	

१.१० अंगबाह्य (उपांग) (Secondary Canons)

भगवान के मुक्त व्याकरण (खुले प्रश्नोत्तर, उपदेश) के आधार पर जिन ग्रन्थों की रचना स्थविर करते हैं, वे अंगबाह्य या उपांग कहलाते हैं। उनका स्वरूप सदैव नियत नहीं होता।

अंगबाह्य साहित्य का कुछ भाग स्थविरों द्वारा रचित है और कुछ भाग निर्यूढ। जो आगम पूर्वों अथवा द्वादशांगी से उद्धृत किये गए, वे निर्यूढ आगम कहलाते हैं, जैसे – दशवैकालिक, निशीथ, व्यवहारसूत्र, बृहत्कल्पसूत्र आदि। अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना, नन्दी आदि सूत्र स्थविरों द्वारा रचित हैं।

प्राचीन काल में अंगबाह्य श्रुत को दो भागों में विभक्त किया जाता था – १. आवश्यक और २. आवश्यक व्यतिरिक्त। उत्तरवर्ती युग में उसके तीन विभाग किये गए – १. उपांग, २. मूल और ३. छेद।

उपांग – श्रुतपुरुष के उपांग के रूप में व्यवस्थित ग्रन्थ उपांग कहलाते हैं। उसके बारह प्रकार हैं –

१. औपपातिक	२. राजप्रश्नीय	३. जीवाजीवाभिगम	४. प्रज्ञापना	५. सूर्यप्रज्ञप्ति	६. चन्द्रप्रज्ञप्ति
७. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	८. कल्पिका	९. कल्पवतंसिका	१०. पुष्पिका	११. पुष्पचूलिका	१२. वृष्णिदशा

१.१०.१ औपपातिक (Oupapatika)

यह पहला उपांग है। उपपात का अर्थ होता है – जन्मान्तर संक्रमण। इस उपांग में विविध प्रकार की भावनाओं और साधनाओं से मरने वाले जीवों का पुनर्जन्म किस प्रकार का होता है, इसका उदाहरण सहित वर्णन किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

१.१०.२ राजप्रश्नीय (Rajprashniya)

प्रस्तुत सूत्र में राजा प्रदेशी द्वारा किये गये प्रश्नों का समाधान केशी मुनि द्वारा दिया गया है। राजा प्रदेशी नास्तिक था, आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को नहीं स्वीकार करता था। केशी मुनि से समाहित हो वह आस्तिक बन गया।

१.१०.३ जीवाजीवाभिगम (Jeevajeevabhigama)

प्रस्तुत सूत्र में जीव, अजीव, उनके भेद-प्रभेद आदि का विस्तृत वर्णन है अत: इसका नाम जीवाजीवाभिगम रखा गया।

१.१०.४ प्रज्ञापना (Pragyapana)

प्रज्ञापना का अर्थ है – ज्ञापित करना, बतलाना। इसमें जीव से संबंध रखने वाले प्रज्ञापना, स्थान, कषाय, इन्द्रिय, लेश्या, कर्म आदि का विवेचन है।

१.१०.५-६ सूर्यप्रज्ञप्ति-चन्द्रप्रज्ञप्ति (Suryapragyapti, Chandrapragyapti)

प्रस्तुत दोनों सूत्रों में क्रमश: सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों की गतियों का विस्तार से वर्णन है। ज्योतिष संबंधी मान्यताओं के अध्ययन के लिए ये दोनों आगम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

१.१०.७ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (Jambudweep Pragyapti)

इसमें जम्बूद्वीप तथा भरतक्षेत्र और उसके पर्वतों, नदियों आदि का वर्णन है। उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल विभागों का तथा कुलकरों, चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि का विवेचन है।

१.१०.८ कल्पिका (Kalpika)

प्रस्तुत सूत्र में दस अध्याय हैं, जिनमें कुणिक अजातशत्रु द्वारा पिता श्रेणिक को बंदीगृह में डालने का वर्णन है। श्रेणिक की आत्महत्या तथा कुणिक का वैशाखी नरेश चेटक के साथ युद्ध का विवेचन भी इसमें प्राप्त होता है, जिससे मगध के इतिहास पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

१.१०.९ कल्पवतंसिका (Kalpavatansika)

प्रस्तुत सूत्र में श्रेणिक के दस पौत्रों की कथाएँ हैं, जो अपने सत्कर्मों द्वारा स्वर्गगामी हुए।

१.१०.१०-११ पुष्पिका-पुष्पचूलिका (Pushpika Pushpa Chulika)

प्रस्तुत दोनों सूत्रों में दस-दस अध्याय हैं, जिनमें ऐसे स्त्री-पुरुषों की कथाएँ हैं जो धार्मिक आराधना करते हुए स्वर्गगामी हुए और देवता होकर अपने विमानों द्वारा महावीर को वंदना करने आये।

१.१०.१२ वृष्णिदशा (Vrishni-Dashaa)

प्रस्तुत आगम में बारह अध्याय हैं, जिनमें द्वारिका के राजा कृष्ण वासुदेव का, बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के रैवतक पर्वत पर विहार करने का, तथा वृष्णि वंशीय बारह राजकुमारों के दीक्षित होने का वर्णन पाया जाता है।

१.११ मूलसूत्र (Moolsutra)

जिन शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन सम्यक्त्व-मूल को दृढ़ करने में हेतुभूत है, वे मूल कहलाते हैं। इनमें मुख्य रूप से साधु जीवन के मूलभूत नियमों, महाव्रत, समिति आदि का उपदेश है, इसलिए भी इन्हें मूलसूत्र कहा जाता है। मूलसूत्र चार हैं – १. उत्तराध्ययन, २. दशवैकालिक, ३. नन्दीसूत्र, ४. अनुयोगद्वार।

१.११.१ उत्तराध्ययन (Uttaradhyayan)

मूलसूत्रों में उत्तराध्ययन का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। उत्तराध्ययन उत्तर और अध्ययन – इन दो शब्दों से बना है। उत्तर के दो अर्थ फलित होते हैं। पहला अर्थ है – उत्तरकाल अर्थात् किसी ग्रन्थ के पश्चात् पढ़े जाने वाले अध्ययन। दूसरा अर्थ है – प्रश्नों का उत्तर देने वाले अध्ययन। इसमें ३६ अध्ययन हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से उत्तराध्ययन के अध्ययन चार भागों में विभक्त हैं – धर्मकथात्मक, उपदेशात्मक, आचारात्मक, सैद्धान्तिक। इसमें विनय की पद्धति, अनुशासन की महत्ता, गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का आधार, साधक का स्वरूप आदि विषयों की विस्तृत अवगति दी गई है। भगवान पार्श्व एवं भगवान महावीर की धर्म देशनाओं का एवं उनके शिष्यों के पारस्परिक मिलन का इसमें बहुत ही सरसता के साथ वर्णन हुआ है। एक वाक्य में कहें तो इसमें धर्मकथाओं, आध्यात्मिक उपदेशों तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का आकर्षक योग है, ऐसा माना जा सकता है।

१.११.२ दशवैकालिक (Dashvaikalika)

दशवैकालिक आचार्य शय्यम्भव की निर्यूहणकृति है। वे श्रुतकेवली थे, उन्होंने विभिन्न पूर्वों से इसका निर्यूहण किया। इसमें दस अध्याय हैं। इसकी रचना विकाल में पूर्ण हुई थी। अत: इसे दशवैकालिक कहते हैं। इसमें मुख्य रूप से धर्म का स्वरूप, साधु की भिक्षाचर्या, श्रामण्य की पूर्वभूमिका, भाषाशुद्धि, विनय-समाधि आदि का सुन्दर विवेचन हुआ है। विषय को स्पष्ट करने के लिए उपमाओं, दृष्टान्तों का भी अनुसरण हुआ है। भिक्षु के स्वरूप पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

१.११.३ नन्दीसूत्र (Nandisutra)

नन्दी शब्द का अर्थ है – आनन्द। प्रस्तुत आगम में ज्ञान का वर्णन है। ज्ञान सबसे बड़ा आनन्द है, इसलिए इसका नाम नन्दी रखा गया है। इस आगम के रचनाकार देववाचक हैं। प्रस्तुत आगम की विषय-वस्तु ज्ञानमीमांसा है। इसमें जैन दर्शन में मान्य पांच ज्ञानों का विस्तार से विवेचन हुआ है –

१. **मतिज्ञान** – इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान।

२. **श्रुतज्ञान** – शब्द, संकेत और शास्त्र आदि से होने वाला ज्ञान।

३. **अवधिज्ञान** – समस्त मूर्त्त पदार्थों को जानने वाला अतीन्द्रिय बोध।

४. **मन:पर्यवज्ञान** – दूसरों के मन की बात को जानने वाला अतीन्द्रिय बोध।

५. **केवलज्ञान** – मूर्त्त-अमूर्त्त सभी पदार्थों की समस्त पर्यायों का साक्षात् बोध।

१.११.४ अनुयोगद्वार (Anuyogadwar)

प्रस्तुत सूत्र के रचयिता आर्य रक्षित माने जाते हैं। इस आगम में विभिन्न अनुयोगों से सम्बद्ध विषयों का आकलन है। नय, निक्षेप का विशद विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है। प्रमाण-वर्णन के प्रसंग में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा आगम प्रमाण की चर्चा की गई है। प्रस्तुत आगम पर चूर्णि और टीकाएँ भी लिखी गई हैं।

१.१२ छेदसूत्र (Chedasutras)

जिस प्रकार फटे हुए वस्त्र को थिग्गल आदि लगाकर जोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार खण्डित संयम को प्रायश्चित्त आदि के द्वारा शुद्ध किया जाता है। उस शुद्धि की व्याख्या – व्यवस्था करने वाले सूत्र छेदसूत्र कहलाते हैं। इन सूत्रों में साधु-साध्वियों के जीवन से सम्बद्ध आचार-विषयक नियमों का विश्लेषण है। इन्हें एकान्त में केवल कुछ विशिष्ट शिष्यों को ही पढ़ाया जाता है। नियम भंग हो जाने पर साधु-साध्वियों द्वारा अनुसरणीय अनेक प्रायश्चित्त विधियों का इनमें विश्लेषण है। छेद सूत्र चार हैं – १. निशीथ, २. व्यवहार, ३. वृहत्कल्प, ४. दशा श्रुतस्कन्ध।

१.१२.१ निशीथ (Nisheeth)

छेदसूत्रों में निशीथ का स्थान सर्वोपरि है। निशीथ का अर्थ है – अन्धकार, रात्रि, अप्रकाश। जो अप्रकाश धर्म – रहस्यभूत या गोपनीय होता है, उसे निशीथ कहा गया है। इस व्याख्या का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रहस्यमय विद्या मन्त्र, तन्त्र, योग अनधिकारी या अपरिपक्व बुद्धि वाले व्यक्तियों को नहीं बताये जाते अर्थात् उनसे उन्हें छिपाकर रखा जाता है, उसी प्रकार निशीथ सूत्र भी गोप्य है। हर किसी के समक्ष उद्घाट्य नहीं है। निशीथ सूत्र में २० उद्देशक हैं, जिनमें साधु-साध्वियों के आचार-विचार संबंधी उत्सर्ग और अपवाद विधि का निरूपण तथा प्रायश्चित्त आदि का सूक्ष्म विवेचन है।

१.१२.२ व्यवहार सूत्र (Vyavahar Sutra)

व्यवहारसूत्र को द्वादशांग का नवनीत कहा गया है। इसमें दस उद्देशक हैं, जो लगभग ३०० सूत्रों में विभक्त हैं। इसमें ज्ञात-अज्ञात रूप से आचरित दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त, आलोचना आदि का मार्मिक विवेचन है। उदाहरणार्थ प्रथम उद्देशक में एक प्रसंग है – यदि एक साधु गण से पृथक् होकर एकाकी विहार करने लगे और फिर यदि वह पुन: गण में समाविष्ट होना चाहे तो उसके लिए आवश्यक है कि वह उस गण के आचार्य, उपाध्याय आदि के समक्ष अपनी गर्हा, निन्दा, प्रायश्चित्त करे। यदि आचार्य, उपाध्याय न मिलें तो अन्य साधुओं के समक्ष निन्दा, गर्हा करे। यदि वह भी न मिले तो इतर सम्प्रदाय के साधुओं के समक्ष करे। इस प्रकार यदि कोई भी न मिले तो सूत्रकार का निर्देश है कि ग्राम, नगर, राजधानी आदि के पूर्व या उत्तर दिशा में स्थित हो, स्वयं आत्म-पर्यालोचन करे कि मैंने अपराध किए हैं, साधुत्व में दोष लगाया है। मैं अर्हतों और सिद्धों की साक्षी से आलोचना करता हूँ और प्रायश्चित्त स्वीकार करता हूँ।

१.१२.३ दशाश्रुतस्कन्ध (Dashashruta Skandha)

प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध दस भागों में विभक्त है, जिन्हें दशा नाम से अभिहित किया गया है। प्रथम दशा में असमाधि के बीस स्थानों का वर्णन है। द्वितीय दशा में शबल के इक्कीस स्थानों का वर्णन है। शबल का अर्थ धब्बों वाला या सदोष है। तृतीय दशा में आशातना के तैंतीस प्रकारों का विवेचन है। चतुर्थ दशा में आचार्य की आठ सम्पदाओं का वर्णन है। पंचम दशा में चित्त समाधि के दस भेदों का वर्णन है। षष्ठ दशा में श्रावक की दस प्रतिमाओं का निरूपण है। सप्तम दशा में भिक्षु की बारह प्रतिमाओं का विवेचन है। अष्टम दशा में भगवान महावीर के च्यवन, गर्भसंहरण, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, मोक्ष का वर्णन है। अष्टमदशा में पर्युषणा कल्प आदि की चर्चा की गई है।

१.१२.४ बृहत्कल्प (Vrihatkalpa)

साधु-साध्वियों के संयम जीवन में जो साधक आचरण हैं, वे कल्प कहलाते हैं और उसमें विघ्न या बाधा उपस्थित करने वाले आचरण अकल्प कहलाते हैं। वृहत्कल्प सूत्र में साधु-साध्वियों के संयत चर्या के सन्दर्भ में वस्त्र, पात्र, स्थान आदि के विषय में विशद विवेचन है। यह सूत्र छ: उद्देशकों में विभक्त है। प्रथम उद्देशक में साधु-साध्वियों के विहार-क्षेत्र की सीमाओं के संबंध में विवेचन है तथा साथ ही यह भी कहा गया है कि यदि अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र का विघात न हो तथा लोगों के ज्ञान-दर्शन-चारित्र में वृद्धि होने की संभावना हो तो उक्त सीमाओं से बाहर विहार करना भी कल्पित है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसी प्रकार साधु-साध्वियों की एक-दूसरे के ठहरने के स्थान में आवागमन की मर्यादा, बैठने, सोने, आहार करने, स्वाध्याय करने आदि की मर्यादाओं का विवेचन है। प्राचीन विवेचन के आधार पर उपांग, मूल और छेद – ये तीनों आवश्यक व्यतिरिक्त अंगबाह्य हैं।

१.१३ आवश्यक सूत्र (Aavashyaka Sutra)

अवश्य से आवश्यक शब्द बना है। श्रमण और श्रावक के लिए जो अवश्य करणीय है, वह आवश्यक कहलाता है। यह छः भागों में विभक्त है –

१. **सामायिक** – सावद्य योग का प्रत्याख्यान और समता का अभ्यास करना।

२. **चतुर्विंशति स्तव** – ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना।

३. **वन्दन** – गुरु चरणों में वन्दन करना, सुखपृच्छा करना।

४. **प्रतिक्रमण** – प्रमादवश हुई भूलों का मिच्छामि दुक्कड़ं (प्रायश्चित्त) करना।

५. **कायोत्सर्ग** – देहभाव का विसर्जन और आत्मभाव का सर्जन करना।

६. **प्रत्याख्यान** – भविष्य में सावद्य योग (पापकारी प्रवृत्ति) न करने का संकल्प करना।

आगमों के विभाग को हम संक्षेप में इस प्रकार समझ सकते हैं –

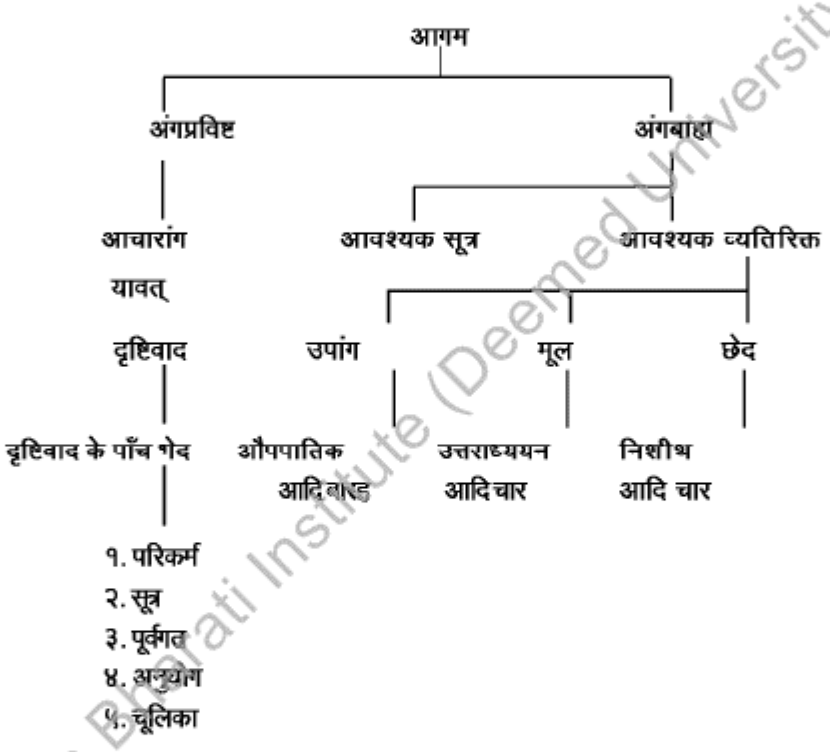

अंगप्रविष्ट ग्रन्थ स्वतः प्रमाण होते हैं। अंगबाह्य ग्रन्थों के प्रणेता श्रुतकेवली हों – यह अनिवार्य नहीं, अतः वे स्वतः-प्रमाण नहीं होते। अंगप्रविष्ट ग्रन्थों के साथ उनकी जितनी संगति हो, वे उतने ही प्रमाण हैं। इसी आधार पर श्वेताम्बर स्थानकवासी तथा तेरापंथी परम्परा उपर्युक्त बत्तीस आगमों को प्रमाण मानती है। कुछ अन्य आचार्य ४५ तथा ८४ आगमों को भी प्रमाण मानते हैं।

१.१४ बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. आगम किसे कहते हैं?

२. आगमों की भाषा कौनसी है?

३. प्रथम आगम वाचना कहाँ और किसके नेतृत्व में हुई?

४. मूलसूत्र किसे कहते हैं?

५. द्वादशांग के नाम लिखें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. आगम को परिभाषित करते हुए आगम वाचनाओं पर प्रकाश डालें ?

२. आगम किसे कहते हैं ? द्वादशांग का विवेचन करें ?

इकाई-३.२ आगमों का व्याख्या साहित्य एवं उत्तरवर्ती साहित्य (Commentaries on the Aagamas and Other Jain Literature)

इकाई की रूपरेखा

२.० उद्देश्य

२.१ प्रस्तावना

२.२ आगमों का व्याख्या साहित्य

- २.२.१ निर्युक्ति और निर्युक्तिकार
- २.२.२ भाष्य और भाष्यकार
- २.२.३ चूर्णि और चूर्णिकार
- २.२.४ टीका और टीकाकार
- २.२.५ स्तबक और जोड़

२.३ परवर्ती प्राकृत साहित्य

- २.३.१ षट्खण्डागम
- २.३.२ कषायपाहुड़
- २.३.३ पंचास्तिकाय
- २.३.४ समयसार
- २.३.५ प्रवचनसार
- २.३.६ मूलाचार

२.४ संस्कृत साहित्य

२.५ प्रादेशिक साहित्य

- २.५.१ कन्नड़ साहित्य
- २.५.२ गुजराती साहित्य
- २.५.३ राजस्थानी साहित्य
- २.५.४ हिन्दी साहित्य

२.६ बोध प्रश्न

२.० उद्देश्य

'आगमों का व्याख्या-साहित्य और अन्य जैन साहित्य' इस विषय का अध्ययन करने के बाद आप –

* समृद्ध जैन साहित्य से परिचित हो सकेंगे।
* आगमों पर जो प्रचुर व्याख्या साहित्य लिखा गया, उनकी संक्षिप्त जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

२.१ प्रस्तावना

तीर्थंकर विस्तृत रूप से उपदेश देते थे तथा गणधर उन्हें सूत्र रूप में गुम्फित करते थे। समय के साथ बुद्धि और स्मृति का ह्रास होने लगा, जिससे सूत्र रूप में लिखी गई तीर्थंकरों की वाणी का हार्द समझ पाना सबके लिए मुश्किल था। इस समस्या का समाधान करने के लिए आचार्यों ने आगमों पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, स्तबक, जोड़ आदि व्याख्या साहित्य लिखा, जिससे सूत्रात्मक शैली में लिखे गए आगमों का हार्द आसानी से समझा जा सकता है। उसके बाद भी प्राकृत, संस्कृत, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं में जैन साहित्य लिखा गया, जिनका संक्षिप्त विवेचन इस इकाई में किया जा रहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

२.२ आगमों का व्याख्या साहित्य (Commentaries on the Aagamas)

जैन आगम सूत्रात्मक शैली में गणधरों के द्वारा लिखे गये। सूत्रात्मक शैली संक्षिप्त होने के कारण उससे सूत्रों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता था। अत: बाद में अर्थ की स्पष्टता के लिए आचार्यों ने आगमों पर व्याख्या साहित्य लिखा। आगम के व्याख्यात्मक साहित्य का प्रारम्भ निर्युक्ति से होता है और वह 'स्तबक' और 'जोड़' तक चलता है। वह व्याख्या साहित्य आज अनेक रूपों में उपलब्ध होता है, जिनमें मुख्य हैं – १. निर्युक्ति, २. भाष्य, ३. चूर्णि, ४. टीका।

२.२.१ निर्युक्ति और निर्युक्तिकार (Niryukti and their Authors)

व्याख्यात्मक ग्रंथों में निर्युक्ति का स्थान सर्वोपरि है। निर्युक्ति को परिभाषित करते हुए लिखा गया – **''णिज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ती''** – अर्थात् सूत्र में निश्चित किया हुआ अर्थ जिसमें निबद्ध हो, उसे निर्युक्ति कहा जाता है। निर्युक्ति आगमों पर आर्या छंद में प्राकृत गाथाओं में लिखा हुआ संक्षिप्त विवेचन है। इसमें विषय का प्रतिपादन करने के लिए अनेक कथानक, उदाहरण आदि का उपयोग किया गया है। आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने दस निर्युक्तियाँ लिखीं –

१. आवश्यक निर्युक्ति	२. दशवैकालिक निर्युक्ति	३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति	४. आचारांग निर्युक्ति	५. सूत्रकृतांग निर्युक्ति
६. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति	७. बृहत्कल्प निर्युक्ति	८. व्यवहार निर्युक्ति	९. सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति	१०. ऋषिभाषित निर्युक्ति।

इनका रचनाकाल वीर-निर्वाण की पांचवी-छठी शताब्दी है। ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति आदि कुछ पूरक निर्युक्तियाँ भी मिलती हैं। ये भाष्य और चूर्णियों के लिए आधारभूत हैं। बृहत्कल्प तथा व्यवहारसूत्र की निर्युक्ति भाष्य में मिली हुई है। सूर्यप्रज्ञप्ति तथा ऋषिभाषित निर्युक्ति अनुपलब्ध है।

२.२.२ भाष्य और भाष्यकार (Bhasyas and their Authors)

आगमों और निर्युक्तियों के आशय को स्पष्ट करने के लिए भाष्य लिखे गये। निर्युक्तियों की भाँति भाष्य भी प्राकृत गाथाओं में संक्षिप्त शैली में लिखे गये हैं। अब तक दस भाष्य उपलब्ध हैं –

१. आवश्यक भाष्य	२. दशवैकालिक भाष्य	३. उत्तराध्ययन भाष्य	४. बृहत्कल्प भाष्य	५. पंचकल्प भाष्य
६. व्यवहार भाष्य	७. निशीथ भाष्य	८. जीतकल्प भाष्य	९. ओघनिर्युक्ति भाष्य	१०. पिण्डनिर्युक्ति भाष्य।

आचार्य जिनभद्रगणी और संघदासगणी – ये दोनों प्रसिद्ध भाष्यकार हुए हैं। भाष्य साहित्य में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियाँ, लौकिक कथाएँ, निर्ग्रन्थों के आचार-विचार की विधियों का प्रतिपादन है। बृहत्कल्प लघुभाष्य तथा पंचकल्प महाभाष्य – ये दोनों संघदासगणी (वि. छठी शताब्दी) तथा विशेषावश्यक एवं जीतकल्प भाष्य – ये दोनों जिनभद्रगणी (वि. सातवीं शताब्दी) की रचनाएँ हैं।

२.२.३ चूर्णि और चूर्णिकार (Churnies and their Authors)

आगमों के ऊपर लिखे गए व्याख्या साहित्य में चूर्णियों का स्थान बहुत महत्त्व का है। चूर्णियाँ गद्य में लिखी गई हैं। इसकी भाषा प्राकृत और संस्कृत मिश्रित है। संभवत: पद्य में लिखे गये निर्युक्ति और भाष्य साहित्य में जैन धर्म के सिद्धान्तों का विस्तार से प्रतिपादन करने के लिए अधिक अवकाश नहीं था। किन्तु चूर्णियाँ गद्य में लिखी गई अत: इसका क्षेत्र निर्युक्ति और भाष्य से विस्तृत है। निम्न आगम ग्रंथों पर चूर्णियाँ उपलब्ध होती हैं –

१. आवश्यक	२. दशवैकालिक	३. नन्दी	४. अनुयोगद्वार	५. उत्तराध्ययन
६. आचारांग	७. सूत्रकृतांग	८. निशीथ	९. व्यवहार	१०. दशाश्रुतस्कन्ध
११. बृहत्कल्प	१२. जीवाजीवाभिगम	१३. भगवती	१४. महा-निशीथ	१५. जीतकल्प
१६. पंचकल्प	१७. ओघनिर्युक्ति			

चूर्णियाँ किसी एक आचार्य द्वारा नहीं लिखी गई। अलग-अलग आचार्यों के द्वारा लिखी गई, जिनमें जिनदासमहत्तर, सिद्ध-सेनसूरि, प्रलम्बसूरि, अगस्त्यमुनि आदि का नाम प्रसिद्ध है। इनमें प्रथम आठ जिनदासमहत्तर (वि. सातवीं शताब्दी), जीतकल्पचूर्णि, सिद्धसेनसूरि (बारहवीं शताब्दी) तथा बृहत्कल्पचूर्णि प्रलम्बसूरि की रचना है।

२.२.४ टीका और टीकाकार (Teekas and their Authors)

निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि की भाँति आगमों पर विस्तृत टीकाएँ भी लिखी गई, जो आगम सिद्धान्त को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। ये टीकाएँ संस्कृत में हैं। आगमों के प्रथम संस्कृत टीकाकार हरिभद्रसूरि हैं। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और जीवाजीवाभिगम – इन आगमों पर टीकाएँ लिखीं। शीलांकसूरि ने आचारांग और सूत्रकृतांग पर टीकाएँ लिखीं। शेष नौ अंगों के टीकाकार हैं – अभयदेवसूरि। अनुयोगद्वार पर मलधारी हेमचन्द्र की टीका भी है। नन्दी, प्रज्ञापना, व्यवहार आदि के टीकाकार मलयगिरी हैं।

२.२.५ स्तबक और जोड़ (Stabaka and Jora)

आगम के व्याख्याकारों की परम्परा आगे भी चली। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में पार्श्वचन्द्रसूरि तथा स्थानकवासी परम्परा के धर्मसी मुनि ने गुजराती-राजस्थानी मिश्रित भाषा में आगमों पर स्तबक लिखे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में श्रीमद्भिक्षुस्वामी और जयाचार्य आगम के यशस्वी व्याख्याता हुए। भिक्षुस्वामी ने आगम के सैकड़ों दुरुह स्थलों पर प्रकीर्ण व्याख्याएँ (जोड़) लिखी हैं। जयाचार्य ने आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, ज्ञाताधर्मकथा, प्रज्ञापना, भगवती सूत्र आदि पर पद्यात्मक व्याख्या 'जोड़' की रचना की।

इस प्रकार जैन आगमों का व्याख्या-साहित्य बहुत ही समृद्ध है। इनके आधार पर हम जैन-दर्शन के सूक्ष्म सिद्धान्तों को आसानी से समझ सकते हैं।

२.३ परवर्ती प्राकृत साहित्य (Prakrit Literature)

(क) दिगम्बर साहित्य (Scriptures of the Digambar Sect)

दिगम्बर परम्परा के अनुसार द्वादशांग आगम का उच्छेद हो गया है, केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश शेष बचा है, जो षट्खण्डागम के रूप में मौजूद है।

२.३.१ षट्खण्डागम (Shatkhandagama)

आगम लोप के पश्चात् दिगम्बर परम्परा में जो साहित्य रचा गया, उनमें षट्खण्डागम और कषायपाहुड का सर्वोपरि महत्त्व है।

ऐसा उल्लेख मिलता है कि दृष्टिवाद अंग के पूर्वगत-ग्रंथ का कुछ अंश ईस्वी की प्रारम्भिक शताब्दी में श्रीधर सेनाचार्य को ज्ञात था। उन्होंने देखा कि यदि इस शेषांश को भी लिपिबद्ध नहीं किया जायेगा तो जिनवाणी का सर्वथा अभाव हो जायेगा। फलत: उन्होंने श्रीपुष्पदंत और श्रीभूतबलि सदृश मेधावी ऋषियों को बुलाकर गिरनार की चन्द्रगुफा में उसे लिपिबद्ध करा दिया। उन दोनों ऋषिवरों ने उस लिपिबद्ध श्रुतज्ञान को ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन सर्व संघ के समक्ष उपस्थित किया था। वह पवित्र दिन 'श्रुतपंचमी' के नाम से प्रसिद्ध है।

षट्खण्डागम के छ: खण्ड हैं – जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधस्वामित्व विचय, वेदना, वर्गणा और महाबंध।

१. जीवट्ठाण – इस पहले खण्ड में सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व– ये आठ अनुयोगद्वार हैं। इस खण्ड का परिमाण १८ हजार है।

२. खुद्दाबंध – दूसरा खण्ड क्षुल्लकबंध है। इसमें ग्यारह अधिकार हैं। यहाँ ग्यारह प्ररूपणाओं के द्वारा कर्मबंध करने वाले जीव का कर्मबंध के भेदों सहित वर्णन है।

३. बंधस्वामित्व विचय – इस खण्ड में कर्म सम्बन्धी विषयों का कर्मबंध करने वाले जीवों की अपेक्षा से वर्णन है।

४. वेदना – चौथा खण्ड वेदना है। इसमें कृत और वेदना नाम के दो अनुयोगद्वार हैं। वेदना के कथन की यहाँ प्रधानता है।

५. वर्गणा – पाँचवे खण्ड का नाम वर्गणा है। इसमें २३ प्रकार की वर्गणाओं का वर्णन है।

६. महाबंध – छठे खण्ड का नाम महाबंध है। भूतबलि ने पुष्पदंत रचित सूत्रों को मिलाकर, पाच खण्डों के ६००० सूत्र रचने के पश्चात् महाबंध की तीस हजार श्लोक प्रमाण रचना की।

वीरसेन आचार्य ने इन छहों खण्डों पर ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवला टीका की रचना की। आगे चलकर नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने षट्खण्डागम के इन खण्डों के आधार पर गोम्मटसार लिखा, जिसे जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड – नाम से दो भागों में विभाजित किया गया।

रचना की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहले पुष्पदन्त आचार्य के सूत्र, फिर वीरसेन आचार्य की धवला टीका और फिर इस टीका में उद्धृत गद्य और पद्यमय प्राचीन उद्धरण।

२.३.२ कषायपाहुड (Kashaya Pahuda)

आचार्य धरसेन के समय के आस-पास ही गुणधर नाम के एक और आचार्य हुए, उन्हें भी द्वादशांग श्रुत का कुछ ज्ञान था। इन्होंने कषायपाहुड नाम के सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना की। कषायपाहुड के ऊपर भी वीरसेन ने टीका लिखी, किन्तु वे २० हजार श्लोक प्रमाण लिखकर ही बीच में स्वर्गवासी हो गये। इस महान् कार्य को उनके सुयोग्य शिष्य आचार्य जिनसेन ने ईस्वी सन् ८३७ में पूर्ण किया। यह टीका जयधवला के नाम से जानी जाती है। यह ६० हजार श्लोक प्रमाण है। धवला और जयधवला संक्रान्तिकाल की रचनाएँ हैं अत: इनमें संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण है।

पंचास्तिकाय-समयसार-प्रवचनसार

दिगम्बर सम्प्रदाय में भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुंदकुंद का नाम लिया जाता है। कुंदकुंद के इन तीनों ग्रंथों को नाटकत्रय अथवा प्राभृतत्रय के नाम से भी जाना जाता है।

२.३.३ पंचास्तिकाय (Panchastikaaya)

पंचास्तिकाय आचार्य कुन्दकुन्द की प्रथम कृति मानी जाती है। यह दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में अस्तिकाय द्रव्यों का विशद वर्णन किया गया है। अस्तिकाय पांच हैं – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

१. **धर्मास्तिकाय** – जीव और पुद्गल की गति में अनन्य सहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय है।

२. **अधर्मास्तिकाय** – जीव और पुद्गल की स्थिति में अनन्य सहायक द्रव्य अधर्मास्तिकाय है।

३. **आकाशास्तिकाय** – सब द्रव्यों को आश्रय देने वाला द्रव्य आकाशास्तिकाय है।

४. **पुद्गलास्तिकाय** – स्पर्श, रस, गंध और वर्ण से युक्त द्रव्य पुद्गलास्तिकाय है।

५. **जीवास्तिकाय** – चैतन्य से युक्त द्रव्य जीवास्तिकाय है।

पंचास्तिकाय के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि नव तत्त्वों का विशद विवेचन किया गया है।

२.३.४ समयसार (Samaysar)

आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार ग्रन्थ अध्यात्म विषय का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। समयसार में समय का अर्थ है – आत्मा और सार का अर्थ है – शुद्ध स्वरूप। इसलिए समयसार का अर्थ है – आत्मा के शुद्ध स्वरूप का कथन। समयसार ग्रन्थ में दस अधिकार हैं, जिसमें जीव और अजीव के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। जीव के संसार भ्रमण के कारणों का उल्लेख करते हुए उससे मुक्त होने का उपाय बतलाया गया है। संसार भ्रमण का मुख्य कारण जीव का अज्ञान है। अज्ञानवश या मोहवश जब जीव अपने निज स्वरूप को भूलकर पर-पदार्थों में आसक्त हो जाता है तब वह बार-बार संसार में परिभ्रमण करता रहता है और जिस दिन उसे आत्म-स्वरूप का बोध होता है, वह बंधन से मुक्ति की ओर प्रस्थान करता है।

२.३.५ प्रवचनसार (Pravachanasaar)

प्रवचनसार आचार्य कुन्दकुन्द की महत्त्वपूर्ण कृति मानी जाती है। यह सम्यसार के बाद की रचना है तथा सीमंधर स्वामी के समवसरण से लौटने के पश्चात् उनके प्रवचनों का सार के रूप में लिखी गई कृति है, इसीलिए इसका नाम भी प्रवचनसार रखा गया है। यह ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में ज्ञान की चर्चा है इसलिए उसका नाम ज्ञानाधिकार है। दूसरे में ज्ञेय तत्त्व की चर्चा है इसलिए उसका नाम ज्ञेयाधिकार है। तीसरे भाग में चारित्र का वर्णन मिलता है, इसलिए उसका नाम चारित्राधिकार है

२.३.६ मूलाचार (Moolaachar)

मूलाचार भी दिगम्बर सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके कर्ता वट्टकेर आचार्य हैं। इसमें मुनियों के आचार का प्रतिपादन है। इसका रचनाकाल ईसा की दूसरी शताब्दी के आस-पास माना गया है। इसमें १२ अधिकार हैं, जो १२५२ गाथाओं में विभाजित हैं। मूल गुणाधिकार में पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक, लोच, अचेलत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्त धावन, स्थिति भोजन और एकभक्त – इस प्रकार २८ मूलगुणों का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त भी भगवती-आराधना, द्रव्य-संग्रह, नयचक्र, सिद्धान्तसार आदि अनेक ग्रंथ हैं। इनकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है।

(ख) श्वेताम्बर साहित्य

श्वेताम्बर आचार्यों ने मध्ययुग में जिस साहित्य की रचना की, उसकी भाषा प्राय: महाराष्ट्री प्राकृत है। इसके अन्तर्गत शिवशर्मसूरि (वि. तीसरी शताब्दी) की कम्मपयडी, उमास्वाति कृत जम्बूद्वीप समास, संघदास क्षमाश्रमण (वि. छठी शताब्दी) कृत वसुदेवहिण्डी आदि ग्रन्थ प्रमुख रूप से गिने जा सकते हैं। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के द्वारा रचित विशेषणवती, बृहत्संग्रह तथा बृहत्क्षेत्र समास तथा हरिभद्रसूरि (वि. आठवीं शताब्दी) के द्वारा रचित समराइच्चकहा आदि भी प्राकृत के अच्छे ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त मध्यकाल में निमित्त, गणित, ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद आदि विषयों पर भी साहित्य संरचना हुई।

२.४ संस्कृत-साहित्य (Sanskrit Literature)

संस्कृत साहित्य की समृद्धि के लिए किसने कितना प्रयास किया या किसने नहीं किया ? यह विचार कोई महत्त्व नहीं रखता। वाङ्मय-सरिता सदा अभेद की भूमि में बहती है। फिर भी जैन, बौद्ध और वैदिक की त्रिपथगामिनी विचारधाराएँ हैं। वे त्रिपथगा (गंगा) की तरह लम्बे अरसे तक बही हैं।

प्राचीन वैदिकाचार्यों ने अपने सारभूत अनुभवों को वैदिक संस्कृत में रखा। जैनों ने अर्ध-मागधी भाषा और बौद्धों ने पाली भाषा के माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत किए। इसके बाद में इन तीनों धर्मों के उत्तरवर्ती आचार्यों ने जो साहित्य बनाया वह लौकिक (वर्तमान में प्रचलित) संस्कृत को पल्लवित करने वाला ही है।

लौकिक संस्कृत में लिखने के सम्बन्ध में किसने पहल की और कौन पीछे से लिखने लगा, यह प्रश्न हो सकता है, किंतु ग्रंथ किसने कम रचे और किसने अधिक रचे – यह कहना कठिन है।

संस्कृत और प्राकृत – ये दोनों श्रेष्ठ भाषाएँ हैं और ऋषियों की भाषाएँ हैं। इस तरह आगम-प्रणेताओं ने संस्कृत-प्राकृत की समकक्षता स्वीकार करके संस्कृत का अध्ययन करने के लिए जैनों का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

संस्कृत भाषा तार्किकों के तीखे-बाणों के लिए तूणीर बन चुकी थी। इसलिए इस भाषा का अध्ययन न करने वालों के लिए अपने विचारों की सुरक्षा खतरे में थी। अत: सभी दार्शनिक संस्कृत भाषा को अपनाने के लिए तेजी से पहल करने लगे।

जैनाचार्य भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहे। वे समय की गति को पहचानने वाले थे, इसलिए उनकी प्रतिभा इस ओर चमकी और वे स्वयं इस ओर मुड़े। उन्होंने पहले ही चरण में प्राकृत भाषा की तरह संस्कृत भाषा पर भी अधिकार जमा लिया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन आचार्यों ने व्याकरण, छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र, गणित, नीतिशास्त्र तथा न्याय विषयक अनेक ग्रन्थों की संरचना कर संस्कृत साहित्य का भण्डार भरा। उन्होंने गद्य, पद्य एवं चम्पू – तीनों विधाओं में अनेक काव्य ग्रन्थ लिखे। सिद्धहेमशब्दानुशासन, छन्दानुशासन, काव्यानुशासन, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, तिलकमंजरी, सप्तसंधान काव्य, भरतबाहुबलि महाकाव्य, षड्दर्शनसमुच्चय, तत्त्वार्थवार्तिक, अष्टसहस्री आदि सैकड़ों ग्रन्थ जैन आचार्यों की देन है। वर्तमान युग में आचार्यश्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने मनोनुशासनम्, जैन सिद्धान्त दीपिका, भिक्षुन्याय कर्णिका, आचारांग भाष्यम् आदि अनेक ग्रन्थरत्नों से संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि की है।

२.५ प्रादेशिक साहित्य (Regional Literature)

२.५.१ कन्नड़ साहित्य (Kannada Literature)

ई. पूर्व पांचवीं शताब्दी में जैन धर्म का अस्तित्व दक्षिण भारत में था। ई. पूर्व तीसरी शताब्दी में भद्रबाहु बारह हजार मुनियों के साथ दक्षिण भारत में गए। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ थे। उनके वहां जाने से धर्म बहुत प्रभावी हो गया और दिगम्बर-आचार्यों का प्रमुख विहार-क्षेत्र दक्षिण बन गया। दक्षिण की भाषाओं में उन्होंने विपुल साहित्य रचा।

कन्नड़ भाषा में कवि 'पोन्न' का शान्तिपुराण, 'पंप' का आदिपुराण और भारज आज भी बेजोड़ माना जाता है। 'रत्न' का गदा-युद्ध भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ईसा की दसवीं शती से सोलहवीं शती तक जैन महर्षियों ने काव्य, व्याकरण शब्दकोष, ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे और कर्णाटक संस्कृति को पर्याप्त समृद्ध बनाया। दक्षिण भारत की पांच द्राविड़-भाषाओं में से कन्नड़ एक प्रमुख भाषा है। उसमें जैन-साहित्य और साहित्यकार आज भी अग्र हैं। तमिल भी दक्षिण की प्रसिद्ध भाषा है। इसका जैन-साहित्य भी बहुत समृद्ध है। इसके पांच महाकाव्यों में से तीन महाकाव्य चिन्तामणि, सिलप्पडिकारम् और वलैतापति – जैन कवियों द्वारा रचित हैं। 'नन्नोल' तमिल का विश्रुत व्याकरण है कुरल और नालदियार जैसे महान् ग्रंथ भी जैन महर्षियों की कृतियाँ हैं।

२.५.२ गुजराती साहित्य (Gujarati Literature)

उत्तर भारत श्वेताम्बर-आचार्यों का विहार-क्षेत्र रहा। उत्तर भारत की भाषाओं में दिगम्बर-साहित्य प्रचुर है, पर श्वेताम्बर-साहित्य की अपेक्षा वह कम है। आचार्य हेमचन्द्र के समय से गुजरात जैन-साहित्य और संस्कृति से प्रभावित रहा है। आनन्दघनजी, यशोविजयजी आदि अनेक योगियों और महर्षियों ने इस भाषा में अनेक रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

२.५.३ राजस्थानी साहित्य (Rajasthani Literature)

राजस्थानी में जैन-साहित्य विशाल है। इस सहस्राब्दी में राजस्थान जैन मुनियों का प्रमुख विहार-स्थल रहा है। यति, संविग्न, स्थानकवासी और तेरापंथी – सभी ने राजस्थानी में लिखा है। रास और चरितों की संख्या प्रचुर है। पूज्य जयमलजी का प्रदेशी राजा का चरित्र बहुत ही रोचक है। कवि समयसुन्दरजी की रचनाओं का संग्रह अगरचंदजी नाहटा ने अभी प्रकाशित किया है। फुटकर ढालों का संकलन किया जाए तो इतिहास को नई दिशाएँ मिल सकती हैं।

राजस्थानी भाषाओं का स्रोत प्राकृत और अपभ्रंश है। काल-परिवर्तन के साथ-साथ दूसरी भाषाओं का सम्मिश्रण हुआ है। राजस्थानी साहित्य तीन शैलियों में लिखा गया है – १. जैन-शैली, २. चारणी-शैली, ३. लौकिक-शैली। जैन-शैली के लेखक जैन-साधु और यति अथवा उनसे सम्बन्ध रखने वाले लोग हैं। इसमें प्राचीनता की झलक मिलती है। अनेक प्राचीन शब्द और मुहावरे इसमें आगे तक चले आये हैं।

जैनों का सम्बन्ध गुजरात के साथ विशेष रहा है। अत: जैन-शैली में गुजरात का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। चारणी-शैली के लेखक प्रधानतया चारण और गौण रूप में अन्यान्य लोग हैं। जैनों, ब्राह्मणों, राजपूतों, भाटों आदि ने भी इस शैली में रचना की है। इसमें प्राचीनता की पुट मिलती है पर वह जैन-शैली से भिन्न प्रकार की है। यद्यपि जैनों की अपभ्रंश रचनाओं में भी, विशेषकर युद्ध-वर्णन में, उसका मूल देखा जा सकता है। डिंगल वस्तुत: अपभ्रंश शैली का ही विकसित रूप है।

तेरापंथ के प्रथम आचार्य भिक्षु ने राजस्थानी साहित्य में एक नया स्रोत बहाया। अध्यात्म, अनुशासन, ब्रह्मचर्य, धार्मिक-समीक्षा, रूपक, लोक-कथा और अपनी अनुभूतियों से उसे व्यापकता की ओर ले चले। उन्होंने गद्य भी बहुत लिखा। उनकी सारी रचनाओं का परिमाण ३८,००० श्लोक के लगभग है। विशुद्ध मारवाड़ी के शब्दों में लिखना और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना उनकी अपनी विशेषता है। उनकी वाणी का स्रोत क्रान्ति और शांति – दोनों धाराओं में बहा है। नवपदार्थ, विनीत-अविनीत, व्रताव्रत, अनुकम्पा, शील की नवबाड़ आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य महाकवि थे। उन्होंने अपने जीवन में लगभग साढ़े तीन लाख श्लोक-प्रमाण गद्य-पद्य लिखे। इनकी रचनाओं में भगवती जोड़, ज्ञाता की जोड़, प्रज्ञापना की जोड़ प्रमुख है।

उनकी लेखनी में प्रतिभा का चमत्कार था। वे साहित्य और अध्यात्म के क्षेत्र में तीव्र गति से चले। उनकी सफलता का स्वत: प्रमाण उनकी अमर कृतियाँ हैं। उनका तत्त्व-ज्ञान प्रौढ़ था। श्रद्धा, तर्क और व्युत्पत्ति की त्रिवेणी में आज भी उनका हृदय बोल रहा है। जिन-वाणी पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। विचार-भेद की दुनिया के लिए वे तार्किक थे। साहित्य, संगीत, कला, संस्कृति – ये उनके व्युत्पत्ति-क्षेत्र थे। उनका सर्वतोमुखी व्यक्तित्व उनके युग-पुरुष होने की साक्षी कर रहा है।

२.५.४ हिन्दी-साहित्य (Hindi Literature)

हिन्दी का आदि-स्रोत अपभ्रंश है। विक्रम की दसवीं शताब्दी से जैन विद्वान् इस ओर झुके। तेरहवीं शती में आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण 'सिद्ध-हेमशब्दानुशासन' में इसका भी व्याकरण लिखा, उसमें उदाहरण-स्थलों में अनेक उत्कृष्ट कोटि के दोहे उद्धृत किए हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर – दोनों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परम्पराओं के मनीषी इसी भाषा में पुराण, महापुराण, स्तोत्र आदि लिखते ही चले गए। महाकवि स्वयम्भू ने पद्मचरित लिखा। राहुलजी के अनुसार तुलसी रामायण उससे बहुत प्रभावित रहा। राहुलजी ने स्वयम्भू को विश्व महाकवि माना है। चतुर्मुखदेव, कवि रइधु, महाकवि पुष्पदन्त के पुराण अपभ्रंश में हैं। योगीन्द्र का योगसार और परमात्मप्रकाश सन्त-साहित्य के प्रतीक-ग्रंथ हैं।

हिन्दी के नये-नये रूपों को जैन-साहित्य अपना योग देता रहा। पिछली चार-पांच शताब्दियों में वह योगदान उल्लासवर्धक नहीं रहा। इस शताब्दी में फिर जैन-समाज इस ओर जागरूक है – ऐसा प्रतीत हो रहा है।

अनेक जैन आचार्य, मुनि और बहुश्रुत मनीषी नए-नए साहित्य का सृजन कर हिन्दी-साहित्य भण्डार को भर रहे हैं। तेरापंथ के आचार्यश्री तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ तथा अनेक मुनियों ने इस दिशा में अभूतपूर्व योगदान दिया है। जैन आगमों को हिन्दी में व्याख्यायित करने का उनका संकल्प क्रियान्वित हो रहा है और साथ-साथ सामयिक विषयों पर शताधिक ग्रंथ लिखे जा चुके हैं। आज भी मनीषी मुनि इस ओर गतिशील हैं। तेरापंथ द्विशताब्दी, कालूजन्म शताब्दी तथा जयाचार्य निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में राजस्थानी और हिन्दी भाषा के अनेक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। जैन ध्यान-योग की विलुप्त परम्परा का संधान करने वाले अनेक ग्रंथ हिन्दी में प्रकाशस्तम्भ बन चुके हैं।

२.६ बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. निर्युक्ति किसे कहते हैं?

२. चूर्णि किसे कहते हैं?

३. पंचास्तिकाय के रचयिता कौन हैं?

४. भगवती जोड़ के लेखक कौन हैं?

५. चूर्णि की भाषा कौन-सी है?

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. आगमों पर लिखे गए व्याख्या-साहित्य का विवेचन करें?

२. प्रादेशिक भाषाओं में मुख्य रूप से किन भाषाओं में साहित्य उपलब्ध होता है, विवेचन करें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग-४

जैन संस्कृति
(Jain Culture)

संवर्ग प्रस्तावना

भारत वर्ष में अनेक संस्कृतियों का संगम है। इसकी संस्कृति में अनेक धर्मों, सम्प्रदायों और जातियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति में मुख्यत: दो धाराएँ रही हैं, जिन्हें ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति के नाम से जाना जाता है। ब्राह्मण संस्कृति का आधार वेद और श्रमण संस्कृति का आधार जिनोपदेश है। श्रमण संस्कृति को ही जैन संस्कृति के नाम से जाना जाता है।

'जैन संस्कृति' नामक इस इकाई में निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है –

१. जैन संस्कृति की विशेषताएँ और जैन पर्व।

२. जैन कला, तीर्थस्थल तथा जैन धर्म के प्रचार में राजाओं का योगदान।

३. जैन धर्म : भारत के विविध अंचलों में और विदेशों में, जैन धर्म : विकास और ह्रास

जैन संस्कृति की विशेषताएँ और जैन पर्व
(Characteristics of Jain Culture and Jain Festivals)

इकाई की रूपरेखा

१.० उद्देश्य
१.१ प्रस्तावना
१.२ संस्कृति का अर्थ
१.३ संस्कृति और सभ्यता
१.४ जैन संस्कृति
१.५ जैन संस्कृति के दो रूप
१.६ जैन संस्कृति की विशेषताएँ
१.७ जैन पर्व
  १.७.१ अक्षय तृतीया
  १.७.२ पर्युषण, दस लक्षण
  १.७.३ महावीर जयन्ती
  १.७.४ दीपावली
१.८ बोध प्रश्न

१.० उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

* संस्कृति किसे कहते हैं, इसे जान सकेंगे।
* जैन संस्कृति की विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।
* जैन धर्म के प्रमुख पर्वों का ज्ञान कर सकेंगे।

१.१ प्रस्तावना

इस इकाई में यह बताया गया है कि जातीय संस्कारों को संस्कृति कहते हैं। संस्कृति का संबंध मानव जाति से है। मानवेतर प्राणियों की संस्कृति नहीं होती। जैन संस्कृति के दो रूप हैं – बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य संस्कृति के अन्तर्गत उस धर्म से संबंधित कला, उत्सव, साहित्य, खान-पान के नियम आदि आते हैं। आभ्यन्तर संस्कृति के अन्तर्गत उन तत्त्वों का समावेश होता है, जो आत्मोपलब्धि में सहायक होते हैं। अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त, संयम, व्रत, नैतिक आदर्श आदि जैन संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

हर धर्म के अपने-अपने पर्व-उत्सव भी होते हैं। उन पर्वों के आधार पर उनकी संस्कृति और सभ्यता को जाना जा सकता है। अक्षय तृतीया, पर्युषण, महावीर जयन्ती और दीपावली, जैन धर्म के प्रमुख पर्व हैं, जिनका विवेचन इस इकाई में किया जा रहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन संस्कृति की विशेषताएँ
(Characteristics of Jain Culture)

१.२ संस्कृति का अर्थ (The Meaning of Culture)

संस्कृति शब्द का संबंध संस्कार से है, जिसका अर्थ है – संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं, जाति के भी। जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। जो संस्कार निरन्तर अभ्यास द्वारा विकसित किये जायें, वह संस्कृति है। संस्कृति आदर्श जीवन जीने की एक कला है। एक विद्वान् के मत में, संस्कृति के स्वरूप की जिज्ञासा वास्तव में अर्थ तथा मूल्य के स्वरूप की जिज्ञासा है। संस्कृति हमारी जीवनविधा में, प्रतिदिन के परस्पर आदान-प्रदान में, कला, साहित्य, धर्म, विज्ञान तथा मनोरंजन की विशिष्ट विधाओं में व्यक्त हमारी प्रकृति ही है। संस्कृति के संबंध में एक विषय पर सभी विद्वानों में मतैक्य है। सभी विचारक यह मानते हैं कि मानवेतर प्राणियों में संस्कृति नहीं होती। संस्कृति मानव की अपनी विशिष्टता है। मानव के पास अपनी संस्कृति को व्यक्त करने के साधन हैं, जो मानवेतर प्राणियों के पास नहीं है।

१.३ संस्कृति और सभ्यता (Culture and Civilization)

संस्कृति और सभ्यता दो अलग-अलग विषय हैं। संस्कृति मनुष्य की उन क्रियाओं, व्यापारों और विचारों का नाम है, जिन्हें वह साध्य के रूप में देखता है। संस्कृति का संबंध चिंतन, मनन तथा आचरण की उदात्तता से है। आध्यात्मिक स्तर विकसित होने पर ही मनुष्य संस्कृति के परिवेश में प्रविष्ट होता है। सभ्यता से तात्पर्य मनुष्य के भौतिक उपकरण, साधन, आविष्कार, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थान तथा उपयोगी सभाओं से है। किसी समाज या राष्ट्र की आन्तरिक प्रकृति की पहचान उसकी संस्कृति से होती है, सभ्यता तो उस समाज या राष्ट्र को प्राप्त, बाह्य उपकरणों से जानी-पहचानी जाती है। संस्कृति का लक्ष्य मानव जाति के लिए शाश्वत मूल्यों की खोज है। वहां सभ्यता का ध्येय मानव समाज के लिए भौतिक सुख-सुविधा के साधन जुटाने से है।

१.४ जैन संस्कृति (Jain Culture)

'जिन' भगवान का धर्म जैन कहलाता है। जैन धर्म के वे विचार जो आत्मशुद्धि में निमित्त बनते हैं, जैन संस्कृति कहलाते हैं। जैन धर्म अनादि है, अत: प्रवाह की दृष्टि से जैन संस्कृति भी अनादि है। उसके प्रथम-प्रवर्तक कौन थे ? यह ज्ञात करना इतिहास की सीमा के बाहर है। जैन संस्कृति का प्रमुख लक्ष्य व्यक्ति और समाज को अहिंसक, शांतिप्रिय, निर्भीक, प्रीतिपूर्ण, सौहार्दपूर्ण, सृजनोन्मुख जीवनशैली प्रदान करना है। त्याग, तप, संयम, बलिदान, सेवा, समर्पण, विसर्जन, करुणा, मैत्री आदि-आदि जैन संस्कृति की मौलिक विशेषताएँ हैं।

१.५ जैन संस्कृति के दो रूप (The Two Forms of Jain Culture)

जैन संस्कृति के दो रूप हैं। एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य रूप वह है जिसे उस संस्कृति के अलावा दूसरे लोग भी आंख, कान आदि बाह्य इन्द्रियों से जान सकते हैं। जैसे – शास्त्र, उसकी भाषा, मन्दिर, उसका स्थापत्य, समाज के खान-पान के नियम, उत्सव, त्यौंहार आदि जैन संस्कृति के बाह्य स्वरूप हैं। आभ्यन्तर रूप हैं – निवर्तक तत्त्व, इच्छा मात्र की निवृत्ति, जन्म-चक्र का उच्छेद, आत्मोपलब्धि। इस प्रकार निवर्तक धर्म ही जैन संस्कृति की आत्मा है।

वर्तमान में जितने भी धर्म दुनियां में हैं, उन्हें तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है –

१. पहला वह है, जो केवल वर्तमान जन्म का ही विचार करता है।
२. दूसरा वह है, जो वर्तमान जन्म के अलावा जन्मान्तर (अगले जन्मों) पर भी विचार करता है।
३. तीसरा वह है, जो जन्म-जन्मान्तर के बाद उसके नाश का या उच्छेद का भी विचार करता है।

जैन धर्म तीसरी विचारधारा का समर्थक है। जन्म-जन्मान्तर का उच्छेद करने के लिए ही उसने 'निवृत्ति धर्म' पर ज्यादा बल दिया है।

१.६ जैन संस्कृति की विशेषताएँ (Characteristics of Jain Culture)

जैन संस्कृति का विश्व की संस्कृतियों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानव-जीवन का परम लक्ष्य है – मोक्ष की प्राप्ति। उस लक्ष्य की प्राप्ति में जैन संस्कृति बहुत सहायक सिद्ध होती है। मानवोचित श्रेष्ठ संस्कारों को स्थापित करने वाली जैन संस्कृति को श्रमण संस्कृति कहना सार्थक और उपयुक्त है। श्रमण संस्कृति का तात्पर्य श्रमण शब्द की व्याख्या से ही स्पष्ट हो जाता है। प्राकृत भाषा में श्रमण के लिए 'समण' शब्द का प्रयोग होता है। समण शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तरण होते हैं – १. श्रमण, २. समन और ३. शमन।

१. श्रमण शब्द श्रम् धातु से बना है, जिसका अर्थ है – परिश्रम या प्रयत्न करना अर्थात् जो व्यक्ति अपने आत्म-विकास के लिए परिश्रम करता है, वह श्रमण है।

२. समन शब्द के मूल में सम् है, जिसका अर्थ है – समत्वभाव। समता जैन आचारशास्त्र का मूल तत्त्व है, जो व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने समान समझता है और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखता है, वह समन कहलाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

३. शमन शब्द का अर्थ है – अपनी वृत्तियों को शांत रखना अथवा इन्द्रिय और मन पर संयम रखना। जो व्यक्ति अपनी वृत्तियों को संयमित रखता है, वह शमन है।

इस प्रकार श्रम – परिश्रम, सम-समता और शम – कषायों का उपशमन – ये जैन संस्कृति की विशेषताएँ हैं।

जैन संस्कृति का मूल आधार आचार में अहिंसा और अपरिग्रह तथा विचार में अनेकान्त है। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त – ये तीन जैन संस्कृति की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो वर्तमान में व्याप्त हिंसा, संग्रह की मनोवृत्ति और अपने मत का दुराग्रह रूप जो समस्याएँ हैं, उनका समाधान भी करती हैं।

१.६.१ अहिंसा (Non-Violence)

अहिंसा जैन संस्कृति का प्राण है। मन, वचन और शरीर से किसी भी जीव का घात न करना अहिंसा है। प्राय: समस्त धर्मों की शिक्षाएँ वर्जनात्मक होती है। अहिंसा भी ऐसा ही एक निषेधात्मक शब्द है, किन्तु जैन-अहिंसा निषेध के द्वारा अकर्मण्यता को प्रोत्साहित नहीं करती। उसका क्रियात्मक रूप भी है। वह है–

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥

सब प्राणियों के प्रति मैत्री, गुणीजनों के प्रति प्रमोदभाव (गुणानुराग), दु:खी जीवों के प्रति दयाभाव और विपरीत आचरण या विचार वालों के प्रति माध्यस्थ भाव हो, यही अहिंसक हृदय भावना करता है। अहिंसक व्यक्ति सब जीवों को आत्मवत् (अपनी आत्मा के समान) समझता है। उसकी दृष्टि में जैसे मैं जीना चाहता हूँ, वैसे ही सारे प्राणी जीना चाहते हैं। कोई भी मरना नहीं चाहता। इसलिए वह किसी भी प्रकार की हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता।

१.६.२ अपरिग्रह (Non-Possession)

अपरिग्रह का उपदेश जैन संस्कृति की विरल विशेषता है। भगवान महावीर ने अर्थ के संग्रह को अनर्थ का मूल बताया। धार्मिक प्रगति में अर्थ को बाधक बताते हुए मुनिचर्या में उसका सर्वथा त्याग अनिवार्य बताया और श्रावक धर्म में उस पर नियंत्रण करना आवश्यक बतलाया।

सूत्रकृतांग में बंधन का मूल कारण परिग्रह को बताया गया। व्यक्ति हिंसा, असत्य, चौर्य आदि का आचरण परिग्रह के लिए ही करता है। इसलिए आचार्य महाप्रज्ञ ने **'अहिंसा परमोधर्म:'** के स्थान पर **'अपरिग्रह परमोधर्म:'** का घोष दिया। प्रश्न हो सकता है कि यदि जैन संस्कृति में अहिंसा परमोधर्म: की प्रधानता नहीं है तो आचार्यों ने पांच व्रतों में अहिंसा को प्रथम स्थान क्यों दिया ? समाधान यही हो सकता है कि जैसे नीचे की सीढ़ियों को चढ़कर ही ऊपर तक पहुंचा जा सकता है, वैसे ही अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य – इन चारों के अभ्यासों से गुजरकर ही पूर्ण अपरिग्रही अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। महाव्रतों की श्रेणी में अपरिग्रह की श्रेणी अन्तिम और उत्कृष्ट है। अहिंसा आदि पहली सीढ़िया अन्तिम सीढ़ी आने पर छूट जाती हैं। अत: अपरिग्रह परमोधर्म कहना सार्थक प्रतीत होता है।

जैन संस्कृति में मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है। वस्तु के प्रति हमारी जो आसक्ति है, वही परिग्रह है। जो व्यक्ति जितना अनासक्त जीवन जीता है, वह उतना ही अपरिग्रही जीवन जीता है और अध्यात्म की ओर प्रगति करता है।

१.६.३ अनेकान्त (Non-absolutism)

अनेकान्त दृष्टि भी जैन संस्कृति की अत्यन्त उपयोगी देन है। इस दृष्टि के अनुसार कोई भी विचार या मतवाद एकान्तत: सही या गलत नहीं होता। वस्तु एक दृष्टिकोण से जैसी दिखाई देती है, दूसरे दृष्टिकोण से वैसी दिखाई नहीं देती। सत्य के अनेक पहलू होते हैं। किसी एक पहलू को देखते हुए उसके अन्य पहलुओं का भी ध्यान रखना अनेकान्त दृष्टि है। यही समन्वय दृष्टि है।

अनेकान्त हमें सिखाता है कि अपने आग्रह को सत्य मानने के साथ-साथ अन्य जनों के आग्रह में भी सत्य को स्वीकार करना चाहिए। किसी एक दृष्टिकोण से हमारी धारणा यदि सत्य है तो किन्हीं अन्य दृष्टिकोणों से अन्य जनों की धारणा भी सत्य होगी और इन सभी विरोधी धारणाओं के समन्वय से ही पूर्ण सत्य का कोई स्वरूप प्रकट हो सकेगा। यह समन्वयशीलता की प्रवृत्ति जैन संस्कृति की ऐसी विशेषता है, जिसमें पारस्परिक विरोध और संघर्ष की स्थिति को समाप्त कर देने की अचूक शक्ति है।

१.६.४ व्रत (Vows)

जैन संस्कृति व्रात्यों की संस्कृति है। व्रात्य शब्द का मूल व्रत है। व्रत का अर्थ है – संयम और संवर। व्रत आत्मा की सन्निधि और बाह्य जगत् से अनासक्ति का सूचक है। जैन संस्कृति में साधु और श्रावक के लिए अलग-अलग व्रतों का विधान किया गया है। साधु के व्रत महाव्रत और श्रावक के व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। व्रत का उपजीवी तत्त्व तप है। जैन परम्परा में तप को अहिंसा, समन्वय, मैत्री और क्षमा के रूप में मान्य किया गया है। व्रत या तप की आराधना के पीछे मूल लक्ष्य आत्मशुद्धि और कर्ममुक्ति का ही रहता है।

१.६.५ संयम (Self-Restraint)

जैन संस्कृति की बहुमूल्य देन संयम है। संयम ही जीवन है। दु:ख और सुख को ही जीवन का ह्रास और विकास मत समझो। संयम जीवन का विकास है और असंयम ह्रास है। असंयमी थोड़ों को व्यावहारिक लाभ पहुंचा सकता है, किन्तु वह छलना, क्रूरता और शोषण को नहीं त्याग सकता। हो सकता है संयमी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

थोड़ों का भी व्यावहारिक हित नहीं साध सके पर वह सबके प्रति निश्छल, दयालु और शोषणमुक्त रहता है। मनुष्य-जीवन उच्च संस्कारी बने, इसके लिए आर्जव, मार्दव, लाघव, क्षमा आदि उच्च वृत्तियाँ चाहिए। इन सबकी प्राप्ति का मूल आधार संयम है। **'एक ही साधै सब सधै'** एक संयम की साधना हो जाये तो सब अपने आप सध जाते हैं। षड्जीवकाय का संयम आत्मशुद्धि का मार्ग तो है ही, वहीं पर्यावरण प्रदूषण जैसी अनेक समस्याओं का भी समाधान है।

१.६.६ नैतिक आदर्श (Moral Ideals)

जैन संस्कृति के नैतिक आदर्श जैन धर्म की विशुद्ध आचार-प्रक्रिया पर आधारित है। आचार की शुद्धि के लिए साधु एवं गृहस्थ – दोनों के लिए कुछ नित्य कृत्यों का विधान है। सामायिक द्वारा व्यक्ति समभाव की साधना करता है। तीर्थंकरों के स्तवन से अपने भावों को पवित्र रखता है। वन्दना से विनय अर्जित करता है। प्रतिक्रमण के द्वारा प्रमादवश हुई भूलों का पश्चात्ताप एवं प्रमार्जन करता है। कायोत्सर्ग द्वारा शरीर के प्रति ममत्व को कम करता है तथा प्रत्याख्यान के द्वारा अपनी समस्त इच्छाओं के निरोध का प्रयास करता है। इस तरह का दैनिक अभ्यास एक दिन व्यक्ति को साधना की उस भूमि पर ला खड़ा करता है, जहाँ नैतिकता के सारे आदर्श पूरे हो जाते हैं। जैन संस्कृति की इस आचार-प्रक्रिया को यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनाले तो अनैतिकता की समस्या समाप्त हो सकती है।

१.६.७ कर्मवाद (The Theory of Karma)

कर्मवाद का सिद्धान्त जैन संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अवदान है। जैन दर्शन में कहा गया – **'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि'** किये गये कर्मों का फल भोगे बिना मोक्ष नहीं हो सकता। व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसे उसका वैसा फल भोगना पड़ता है। कर्मों का फल किसी ईश्वर के द्वारा नहीं मिलता अपितु समय आने पर पूर्वबद्ध कर्मों का प्रतिफल स्वयं मिल जाता है। कर्म सिद्धान्त हमें यह बताता है कि अपने भाग्य के निर्माता हम स्वयं हैं। हमारा आज का पुरुषार्थ ही, कल हमारा भाग्य बन जाता है। अत: सदैव सही दिशा में पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। इस प्रकार कर्मवाद के सिद्धान्त ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य का जो आदर्श उपस्थित किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार-विचार के साथ-साथ साहित्य, कला, पर्व, व्रत आदि भी संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। इनके आधार पर ही उनकी संस्कृति को सही तरीके से जाना जा सकता है।

१.६.८ साहित्य (Literature)

साहित्य के क्षेत्र में जैन साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जैनों का सबसे प्राचीनतम साहित्य आगम है। भगवान महावीर ने देखा कि समाज का मार्गदर्शन करने वाले पढ़े-लिखे लोग जिस भाषा में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, वह संस्कृत भाषा जन-समुदाय की भाषा नहीं है। इसलिए उन्होंने अपने उपदेशों में जनभाषा प्राकृत (अर्धमागधी) का प्रयोग किया। उनके गणधरों ने भी उसी भाषा में इसे सूत्र रूप में गुम्फित किया। इस प्रकार जन-भाषा में एक विशाल धार्मिक साहित्य भण्डार सांस्कृतिक धरोहर के रूप में आगामी पीढ़ियों को मिला। इस साहित्य का संवर्धन टीकाओं या व्याख्याओं के द्वारा मध्यकाल तक होता रहा। इस प्रकार आज जैन साहित्य संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं में उपलब्ध होता है।

जैन साहित्य सांस्कृतिक दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है। जैनाचार्य देश के एक कोने से दूसरे कोने तक निरन्तर भ्रमण करते रहते थे। अत: जब वे साहित्य सृजन करते थे, तब उनकी लेखनी में सारे देश का प्रतिबिम्ब उतर आता था। आज आधुनिक लोक-भाषाओं एवं उनकी साहित्यिक विधाओं के विकास को समझने के लिए जैन साहित्य का अध्ययन अपरिहार्य है।

१.६.९ कला (Art)

साहित्य के साथ कला भी संस्कृति का अभिन्न अंग है। जैन संस्कृति के अन्तर्गत कला के जितने भी रूप उपलब्ध हैं, सबकी अपनी-अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि है। गुफाओं, स्तूपों, मन्दिरों, मूर्तियों एवं चित्रों के द्वारा जैन धर्म ने न केवल लोक का आध्यात्मिक एवं नैतिक स्तर उठाने का प्रयत्न किया है, अपितु देश के विभिन्न भागों को सौन्दर्य से भी सजाया है।

जैन मूर्तिकला की अपनी विशिष्टता है। भारत की प्राचीनतम मूर्तियां जो आज उपलब्ध हैं, जैन संस्कृति से ही अधिक घनिष्ठ हैं। जैन मूर्तियों की ध्यानस्थ मुद्रा बहुत प्रभावशाली होती है।

जैन चित्रकला आध्यात्मिकता के प्रचार-प्रसार के लिए जितने महत्त्व की है, उतनी ही प्राचीन भारतीय चित्रकला के इतिहास को जानने के लिए भी आवश्यक है। अजन्ता की गुप्तकालीन बौद्ध-गुफाओं में चित्रकला का जो विकसित रूप दिखायी पड़ता है, उससे यह स्पष्ट होता है कि इससे पूर्व इसकी कोई आधुनिक चित्रकला अवश्य रही होगी। 'नायाधम्मकहाओ' (ज्ञाताधर्मकथा) जैसे प्राचीनतम जैन ग्रन्थ में चित्रकला का जो स्वरूप उल्लिखित है, वह प्राचीन भारतीय चित्रकला की ओर ही संकेत करता है। अत: जिस प्रकार आधुनिक भाषाओं के अध्ययन के लिए प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा का अध्ययन करना आवश्यक है, वैसे ही भारतीय चित्रकला का क्रमिक इतिहास जानने के लिए जैन चित्रकला की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

१.६.१० पर्व और त्यौहार (Festivals)

पर्व और त्यौहार समाज के अन्तर्मानस की सामूहिक अभिव्यक्ति है। व्यष्टि और समष्टि के जीवन क्रम में जिस विश्वास, प्रेरणा एवं उत्साह की आवश्यकता पड़ती है, उसकी पूर्ति पर्वों से होती है। पर्व एवं त्यौहार किसी-न-किसी धार्मिक एवं सामाजिक दायित्व के प्रति व्यक्ति को जगाने का कार्य करते हैं। जैन संस्कृति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के भी अपने कुछ पर्व हैं। यथा – दीपावली, अक्षयतृतीया, महावीर जयंती, पर्युषण, दस लक्षण आदि। इन पर्वों की यह विशेषता है कि ये व्यक्ति में त्याग, तप, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य, प्रेम तथा विश्वमैत्री की भावना को जागृत करने वाले होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन संस्कृति एक महान् संस्कृति है। उसका रूप सदा व्यापक रहा है। उसका द्वार सबके लिए खुला रहा है। उस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असांप्रदायिकता और जातीयता का अभाव है। व्यवहार दृष्टि से जैनों के सम्प्रदाय हैं, पर उन्होंने धर्म को सम्प्रदाय के साथ नहीं बांधा। वे जैन सम्प्रदायों को नहीं, जैनत्व को महत्त्व देते हैं। जैनत्व का अर्थ है – सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की आराधना। इनकी आराधना करने वाला अन्य सम्प्रदाय के वेश में भी मुक्त हो सकता है और गृहस्थ के वेश में भी मुक्त हो सकता है। उपर्युक्त विवेचन में जैन संस्कृति के कुछ पक्षों का स्पर्श मात्र किया गया है। जैन संस्कृति को समझे बिना भारतीय संस्कृति की तह तक नहीं पहुंचा जा सकता। अब हम जैन पर्व, जैन कला, जैन तीर्थस्थलों का विस्तार से विवेचन करेंगे।

१.७ जैन पर्व (Jain Festivals)

पर्व शब्द का अर्थ है – उत्सव। किसी जाति, धर्म या समाज के पर्व को देखकर उसकी संस्कृति, सभ्यता, जीवन स्तर और वैशिष्ट्य को अच्छी तरह से जाना जा सकता है। पर्व अतीत की घटनाओं के प्रतीक होते हैं, वर्तमान के लिए प्रेरणास्रोत होते हैं और भविष्य में संस्कृति को जीवित रखने वाले होते हैं। जैन धर्म एक महान् परम्परा का संवाहक है। सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से यह अनेक पर्वों को अपने भीतर समेटे हुए है। उनमें मुख्य पर्व चार हैं –

१. अक्षय तृतीया
२. पर्युषण और दस लक्षण
३. महावीर जयन्ती
४. दीपावली

१.७.१ अक्षय तृतीया (Akshaya Tritiyaa)

यह जैनों का ऐतिहासिक पर्व है। इसका सम्बन्ध प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ से है। इस दिन उनकी एक वर्ष चालीस दिन की तपस्या का पारणा हुआ था। इसका इतिहास इस प्रकार है –

भगवान ऋषभ कर्मयुग को छोड़कर धर्मयुग की ओर मुड़े। मुनि जीवन स्वीकार किया। दीक्षा के साथ ही ऋषभ के पूर्वार्जित अन्तराय कर्म का विपाकोदय हो गया। लोग भिक्षाविधि से अपरिचित थे। ऋषभ के प्रति अपार श्रद्धा रखते हुए भी आहार-पानी के लिए किसी ने नहीं कहा। किसी ने हाथी, किसी ने घोड़ा, किसी ने रथ के लिए आग्रह किया। प्रभु को नंगे पैर देखकर किसी ने रत्नजड़ित जूते लाकर पहन लेने का आग्रह किया। किसी ने नंगे सिर देखकर मुकुट धारण करने का आग्रह किया, किन्तु खाद्य पदार्थों के लिए किसी ने नहीं कहा, इसका कारण था कि लोग भिक्षाविधि से अनजान थे। वे सोचते थे – रोटी जैसी तुच्छ वस्तु क्या दें। इस प्रकार एक वर्ष और पचीस दिन बीत गये। भगवान को न खाने के लिए रोटी मिली और न पीने के लिए पानी। कई बार उन्होंने भोजन की इच्छा से परिभ्रमण भी किया, पर कुछ नहीं मिला। धीरे-धीरे उन्होंने भूख पर विजय प्राप्त कर ली। फिर भी उन्होंने सोचा – भविष्य में जो मुनि बनेंगे, वे भूखे नहीं रह सकेंगे, इसलिए मुझे भिक्षाविधि का प्रवर्तन करना है। इसी उद्देश्य से परिव्रजन करते हुए वे हस्तिनापुर पहुंचे।

वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था। प्रभु भिक्षा के लिए घर-घर गवेषणा (खोज) कर रहे थे। उधर ऋषभ के पौत्र श्रेयांस ने पिछली रात्रि में एक स्वप्न देखा कि उसने अपने हाथों से मेरु पर्वत का अभिषेक किया है। वह इस अद्भुत स्वप्न के बारे में चिन्तन कर रहा था। सहसा उसकी दृष्टि भगवान ऋषभ पर पड़ी। कुमार श्रेयांस भगवान ऋषभ का संसार पक्षीय पौत्र था, पर वह उन्हें पहचान नहीं पाया। पूर्वभव के संस्कार जगे। जाति-स्मृति ज्ञान हो गया। इस ज्ञान से श्रेयांस ने जाना कि प्रभु निर्दोष आहार की गवेषणा कर रहे हैं और लोग उनकी भिक्षा-विधि से अनजान हैं। वे उनसे अग्राह्य वस्तुएँ हाथी, घोड़ा, रत्न, मोती, माणक, हीरा, पन्ना आदि को ग्रहण करने का आग्रह कर रहे हैं।

तत्काल श्रेयांस नंगे पांव दौड़कर नीचे आया। भगवान के चरणों में विनिवत् वन्दना की और आहार के लिए प्रार्थना की। कुमार को यह जानकर अत्यन्त पीड़ा हुई कि भगवान को दीक्षित होने के बाद आज तक भोजन नहीं मिला।

कुमार का अनुनय स्वीकार कर भगवान राजमहल में पधारे। श्रेयांस कुमार तत्काल भीतर गये और देखा क्या चीज शुद्ध है? उन्हें वहाँ सिर्फ इक्षु-रस ही शुद्ध मिला। इक्षुरस के मौसम का अन्तिम दिन होने के कारण किसान लोग इक्षुरस के घड़े भेंट में लाये थे, जो एक स्थान पर यथावत् रखे हुए थे।

श्रेयांसकुमार ने निवेदन किया – प्रभो! इक्षुरस के ये १०८ घड़े प्रासुक (शुद्ध) हैं, आप ग्रहण करें। उस इक्षुरस के द्वारा भगवान का पारणा हुआ। पारणा होते ही चारों ओर 'अहो दानम्, अहो दानम्' की ध्वनियां गूंजने लगी। देवों ने पंच द्रव्य प्रकट किये। दान की महिमा एवं विधि से लोग परिचित हुए। ऋषभ के एक वर्ष की तपस्या के बाद दान धर्म की स्थापना हुई। इक्षु-रस के दान से वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन अक्षय तृतीया के नाम से जाना जाने लगा। श्रेयांस का स्वप्न सफल हुआ। वास्तव में ही उसने अपने हाथों में पूर्ण अमृत-कुम्भ लेकर सुमेरु को अभिषिक्त कर दिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ऋषभ के वर्षीतप के पारणे का इतिहास इस दिन के साथ जुड़ गया। आज भी इस दिन को एक पर्व के रूप में मनाया जाता है। इस दिन वर्षीतप का पारणा करने की भी परम्परा चल रही है। वर्षीतप करने वाले इक्षुरस से पारणा करते हैं। शारीरिक क्षमता की न्यूनता के कारण एकान्तर तप (एक दिन उपवास और एक दिन भोजन) को वर्षीतप का स्वरूप उपलब्ध हो गया। इस तप का समापन उल्लासपूर्ण वातावरण में होता है। आज भी अक्षय तृतीया का दिन अनेक घटनाओं, परम्पराओं का संगम स्थल बना हुआ है।

१.७.२ पर्युषण और दस लक्षण (Paryushan and Das Lakshanas)

जैनों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर्व पर्युषण है। सम्पूर्ण जैन समाज इस पर्व के प्रति श्रद्धानत है। जहाँ सारे पर्व खा-पीकर, मौज-मस्ती के साथ मनाये जाते हैं, वहां यह पर्व तप, त्याग और संयम के साथ मनाया जाता है। दिगम्बर परम्परा में इस पर्व का नाम दस लक्षण वर्णित है। श्वेताम्बर परम्परा में पर्युषण पर्व भाद्र कृष्णा द्वादशी, त्रयोदशी से प्रारम्भ होकर भाद्रशुक्ला चतुर्थी, पंचमी तक मनाया जाता है। इस पर्व का अन्तिम दिन (भाद्र शुक्ला पंचमी) संवत्सरी कहलाता है। दिगम्बर-परम्परा में यही पर्व भाद्रशुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक मनाया जाता है। इन दस दिनों में क्षमा आदि दस धर्मों की आराधना की जाती है। इसलिए इसे दस लक्षण पर्व कहा जाता है।

पर्युषण (Paryushan)

पर्युषण का शाब्दिक अर्थ है परि – चारों ओर से सिमटकर, वसन – एक स्थान पर निवास करना या स्वयं में वास करना।

१. मैत्री भाव का प्रेरक पर्युषण – पर्युषण मैत्री भाव का प्रेरक है। **'परि समन्तात् उषणं-निवासः सर्वजीवैः सर्वभावनैति पर्युषणम्'** अर्थात् सब जीवों के प्रति सर्वभाव से मैत्री की भावना करने का पर्व पर्युषण है।

२. उपशम भाव का प्रेरक – पर्युषण उपशम भाव का प्रेरक पर्व है। **'परिसमन्तात् उपशमनं कषायाणां इन्द्रियविषयाणां च यस्मिन् तत् पर्युपशमनं'** अर्थात् इन्द्रिय विषयों और कषायों का जिसमें उपशमन होता है वह पर्व पर्युषण है।

३. तपोभाव का प्रेरक – पर्युषण तपोभाव का प्रेरक है। **'परिसमन्तात् उषणं दुष्कर्माणां पर्युषणं'** अर्थात् चारों ओर से एकचित्त होकर तपस्या के द्वारा दुष्ट कर्मों के दहन करने का पर्व पर्युषण है।

पर्युषण के लिए संवत्सरी शब्द का प्रयोग बाद का प्रयोग है। मूल शब्द पर्युषण है। ऐसा उल्लेख मिलता है कि पंचमी के दिन अर्थात् संवत्सरी के दिन जैन श्रमण तीन कार्यों को न करें –

१. इस दिन किंचित् भी आहार नहीं करें। उपवास करें।

२. सिर पर गाय के रोम जितने भी बाल नहीं रखें।

३. यदि परस्पर कठोर वचन बोले तो खमतखामणा (क्षमायाचना) करें, न करने पर संघ से पृथक् कर दें।

पर्युषण पर्व का सर्वाधिक और महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान है – खमतखामणा। खमतखामणा की सहज प्रक्रिया यह है कि जिस समय किसी के प्रति दुर्भावना आ जाए, उसी समय क्षमायाचना कर लें। उस समय संभव न हो तो उस दिन इस प्रक्रिया को सम्पन्न कर लिया जाए। किसी कारण से वह दिन भी टल जाये तो पाक्षिक प्रतिक्रमण के समय अवश्य क्षमायाचना कर ले। पक्ष तक भी मन की कलुषता न धुले तो चातुर्मास का अतिक्रमण न करे और चातुर्मास का समय भी बीत जाए तो पर्युषण पर्व की संपन्नता तक तो मन का ग्रन्थि-मोचन अवश्य ही हो जाना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति संवत्सरी महापर्व पर भी क्षमा का आदान-प्रदान नहीं करता है तो वह अपनी धार्मिकता को समाप्त कर देता है। इस दृष्टि से इस पर्व को ग्रंथिमोचन का पर्व भी कहा जा सकता है। मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा में इस पर्व का विशेष महत्त्व है।

दस लक्षण पर्व (Das-Lakshana Parva)

दस लक्षण पर्व पर्युषण पर्व का ही दूसरा नाम है। श्वेताम्बर-दिगम्बर – दोनों सम्प्रदायों में यह पर्व कुल सत्तरह दिनों तक मनाया जाता है। श्वेताम्बर भाद्र कृष्णा त्रयोदशी से भाद्र शुक्ला पंचमी तक आठ दिन तथा दिगम्बर भाद्र शुक्ला पंचमी से प्रारम्भ कर चतुर्दशी तक दस दिन मनाते हैं। दिगम्बर परम्परा में ये दस दिन दस धर्मों से जोड़े गये हैं, जो इस प्रकार हैं –

१. क्षमा – क्षमा का अर्थ है – सहिष्णुता। किसी भी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित होने पर उसे सहज भाव से सहना, उत्तेजित होने का अवसर आने पर भी शांत रहना, क्षमा है।

२. मुक्ति – मुक्ति का अर्थ है – निर्लोभता। शरीर और पदार्थ जगत के प्रति अनासक्त रहना।

३. आर्जव – आर्जव का अर्थ है – सरलता। माया, छलना आदि से उपरत होना।

४. मार्दव – मार्दव का अर्थ है – कोमलता। मन, वाणी आदि के कठोर व्यवहार को छोड़ना और करुणा का स्रोत बहाना।

५. लाघव – लाघव का अर्थ है – हल्कापन। कषायों को हल्का करना। शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक तनावों से मुक्त होना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

६. सत्य – जो तत्त्व जैसा है, उसको उसी रूप में समझना और उसका उसी रूप में कथन करना।

७. संयम – इन्द्रिय और मन का संयम रखना। संयम की साधना से मानसिक और भौतिक – दोनों प्रकार की समस्याओं का समाधान होता है।

८. तप – कर्मशरीर को तपाने वाला अनुष्ठान तप है।

९. त्याग – संकल्प शक्ति का विकास करना। विषय और उससे होने वाली वासना, आसक्ति को छोड़ने का संकल्प करना।

१०. ब्रह्मचर्य – ब्रह्मचर्य का अर्थ है – आत्मा में विचरण करना। इसके लिए मन, वाणी, इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है।

दस लक्षण पर्व में प्रतिदिन एक-एक धर्म का अभ्यास किया जाता है। इन दस धर्मों पर व्याख्यान होता है। उपवास, एकासन आदि तपस्याएँ की जाती हैं। इन दस धर्मों की साधना करने वाला श्रमण ऊर्ध्वारोहण करता हुआ आत्म-विकास की सब भूमिकाओं को पार कर मुक्त हो जाता है।

१.७.३ महावीर जयन्ती (Mahaveera Jayanti)

भगवान महावीर का जन्म-दिन महावीर जयन्ती के नाम से जाना जाता है। उनका जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। उनकी माता का नाम त्रिशला और पिता का नाम सिद्धार्थ था। महावीर के जन्म के साथ ही राज्य में धन-धान्य आदि संपदाओं की वृद्धि हुई अत: उनका नाम वर्धमान रखा गया। वे बचपन से ही तीन ज्ञान के धारक थे। तीस वर्ष तक वे गृहस्थ अवस्था में रहे। साढ़े बारह वर्ष तक उन्होंने कठोर साधना कर केवलज्ञान प्राप्त किया। केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद उन्होंने जो उपदेश दिया, वह मानव मात्र के लिए कल्याणकारी था। उन्होंने अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त जैसे सिद्धान्तों द्वारा मानव मूल्यों को प्रतिष्ठित कर समाज में समता का साम्राज्य स्थापित किया। उनके उपदेश आज भी जगत् के लिए कल्याणकारी हैं। विश्व की समस्याओं का समाधान देने वाले हैं। इसलिए महावीर आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं। प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को महावीर-जन्म जयन्ती मनाई जाती है। व्यापक स्तर पर कार्यक्रमों की आयोजना होती है। उनके सिद्धान्तों की चर्चा होती है। उन्हें जीवन में उतारने के लिए सभी कृतसंकल्प होते हैं। प्रभात जागरिका, गोष्ठियां आदि कार्यक्रम भी आयोजित किये जाते हैं। उनके चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है।

१.७.४ दीपावली (Deepawali)

दीपावली भारत वर्ष का आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पर्व है। यह पर्व कर्तिक कृष्णा अमावस्या को मनाया जाता है। इस पर्व के साथ विभिन्न संस्कृतियों एवं महापुरुषों की स्मृतियां जुड़ी हुई हैं। यही कारण है कि यह पर्व किसी एक सम्प्रदाय, जाति या वर्ग विशेष का नहीं है, समस्त भारत की भावनात्मक एकता का प्रतीक है।

जैन परम्परा के अनुसार इसका सम्बन्ध भगवान महावीर के साथ जुड़ा है। हरिवंश पुराण में भगवान महावीर के निर्वाण का वर्णन करते हुए लिखा है – भगवान महावीर भव्य जीवों को उपदेश देते हुए पावापुरी में पधारे और कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि में अनशन स्वीकार किया तथा कार्तिक कृष्णा अमावस्या को चार अघाति कर्मों का नाश कर निर्वाण को प्राप्त किया। निर्वाण के इस अवसर पर देवताओं ने अमावस्या की इस सघन रात्रि में गली-गली में रत्नों से प्रकाश किया। अनेक राजा चरमोत्सव मनाने आये थे। उन्होंने घर-घर दीप जलाकर भगवान का निर्वाण दिवस मनाया था। आज भी उसी का अनुसरण करते हुए दीपक जलाकर दीपमालिका मनाई जाती है।

दीपावली पर्व सफाई और स्वच्छता का प्रतीक है। दीपावली आने के कई दिन पूर्व हम सभी मकान, दुकान, घर आदि की सफाई करते हैं, जिस प्रकार हम बाह्य स्वच्छता पर जोर देते हैं, उसी प्रकार अंतरंग कर्ममल को भी स्वच्छ बन ने का संदेश यह पर्व हमें देता है।

भगवान महावीर के निर्वाण दिन से ही वीर निर्वाण संवत् का प्रचलन हुआ जो वर्तमान में प्रचलित संवतों में सर्वाधिक प्राचीन है।

दीपावली पर्व जैनों के समान हिन्दुओं में भी सोल्लास मनाया जाता है। इसके अनेक कारण बतलाये जाते हैं –

१. भगवान राम दशहरे के दिन रावण का वध करके, उसके बीस दिन बाद कार्तिक कृष्णा अमावस्या को अयोध्या लौटे थे। अयोध्यावासियों ने उनके स्वागत में दीप जलाये थे।

२. इस दिन श्रीकृष्ण ने नरकासुर का वध किया था।

३. इसी दिन स्वामी शंकराचार्य ने शरीर छोड़ा था।

४. सम्राट अशोक के दिग्विजय से लौटने की प्रसन्नता में कार्तिक कृष्णा अमावस्या को दीप प्रज्वलित किये गये थे।

५. सिक्खों के छठे गुरु गोविन्दसिंह का स्वर्गवास भी इसी दिन हुआ था।

१.८ बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. संस्कृति किसे कहते हैं?

२. व्रत किसे कहते हैं?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

३. अक्षय तृतीया का संबंध किसके साथ है ?

४. पर्युषण किसे कहते हैं ?

५. भगवान महावीर का निर्वाण कहाँ हुआ ?

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. जैन संस्कृति की विशेषताओं पर प्रकाश डालें ?

२. जैन धर्म के प्रमुख पर्वों का विवेचन करें ?

इकाई-४.२ जैन कला, तीर्थस्थल तथा जैन धर्म के प्रचार में राजाओं का योगदान
(Jain Art, Places of Piligrimage and the Contribution of Kings in Propagation of Jain Religion)

इकाई की रूपरेखा

२.० उद्देश्य
२.१ प्रस्तावना
२.२ जैन चित्रकला
२.३ चित्रकला के प्रकार
  २.२.१ भित्तिचित्र
  २.२.२ ताड़पत्रीय चित्र
  २.२.३ कागज पर चित्र
  २.२.४ काष्ठचित्र
  २.२.५ पटचित्र (वस्त्र पर चित्र)
२.४ जैन मूर्तिकला
  २.४.१ कुषाणकालीन जैन मूर्तियाँ
  २.४.२ गुप्तकालीन जैन मूर्तियाँ
  २.४.३ धातु की मूर्तियाँ
  २.४.४ यक्षियों की मूर्तियाँ
  २.४.५ अम्बिका देवी की मूर्ति
२.५ जैन स्थापत्य कला
२.६ लिपिकला
२.७ जैन तीर्थस्थल
  २.७.१ शत्रुंजय
  २.७.२ सम्मेदशिखर
  २.७.३ श्रवणबेलगोला
  २.७.४ रणकपुर
  २.७.५ राजगृह
  २.७.६ पावापुरी
  २.७.७ आबू
  २.७.८ ऋषभदेवजी
२.८ जैन धर्म के प्रचार में राजाओं का योगदान
  २.८.१ मगध सम्राट श्रेणिक
  २.८.२ महाराज सम्प्रति
  २.८.३ चक्रवर्ती खारवेल
२.९ बोध प्रश्न

२.० उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

* जैन चित्रकला से परिचित हो सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

❋ जैन मूर्तिकला की विशेषताओं को जान सकेंगे।

❋ जैन स्थापत्य और लिपिकला की सूक्ष्मता को समझ सकेंगे।

❋ जैन तीर्थस्थलों के महत्त्व को जान सकेंगे।

❋ जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में राजाओं के योगदान की भूमिका को जान सकेंगे।

२.१ प्रस्तावना

इस इकाई में सर्वप्रथम जैन धर्म में पायी जाने वाली विविध कलाओं का विवेचन किया गया है, जिनमें मुख्य हैं – चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला, लिपिकला आदि। जैन धर्म में इन कलाओं के माध्यम से सिद्धान्तों की गहनता को स्पष्ट किया गया है। आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक और प्राकृतिक रहस्यों की अभिव्यंजना भी कला के माध्यम से की गई है।

जैन तीर्थस्थलों में स्थित मंदिरों में जैन कला के वैशिष्ट्य को देखा जा सकता है। शत्रुंजय, सम्मेदशिखर, श्रवणबेलगोला, रणकपुर, आबू आदि प्रमुख जैन तीर्थस्थल हैं।

जैन धर्म के सिद्धान्त आज भी प्रासंगिक हैं क्योंकि वे केवल बुद्धि-विलास मात्र नहीं हैं, अपितु युगीन समस्याओं का समाधान देने वाले हैं। यही कारण है कि अनेक राजाओं ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, जिनका विवेचन भी इस इकाई के अन्तर्गत किया गया है।

जैन कला (Jain Art)

जैन परम्परा में कला शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भगवान ऋषभ ने अपने राज्यकाल में पुरुषों के लिए बहत्तर और स्त्रियों के लिए चौसठ कलाओं का निरूपण किया। टीकाकारों ने कला का अर्थ वस्तु-परिज्ञान किया है। इसमें लेख, गणित, चित्र, नृत्य, गायन, युद्ध, काव्य, वेशभूषा, स्थापत्य, पाक, मनोरंजन आदि अनेक परिज्ञानों का समावेश किया गया है।

धर्म भी एक कला है। यह जीवन की सबसे बड़ी कला है। कहा गया है जो व्यक्ति सब कलाओं में श्रेष्ठ धर्मकला को नहीं जानता, वह बहत्तर कलाओं में कुशल होते हुए भी अकुशल है।

२.२ जैन चित्रकला (Jain Paintings)

भारतवर्ष में चित्रकला का भी बड़ा प्राचीन इतिहास है। प्राचीन उपलब्ध चित्रों में सौन्दर्यानुभूति के साथ आत्मिकरस, साम्प्रदायिक मान्यताएँ एवं नव-जागरण के सन्देश देने वाले धार्मिक चित्रों की ही अधिकता है। यद्यपि कलाशास्त्री जैन चित्रकला को पृथक् स्थान नहीं देते, पर जैनचित्रों की भावव्यंजना और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति साधारण चित्रकला की अपेक्षा भिन्न है। जैनाचार्यों ने अपने हाथों से जैन धर्म के सिद्धान्त और आख्यानों को स्पष्ट करने के लिए चित्रों का निर्माण किया है तथा जैन राजाओं ने अपनी कलाप्रियता का परिचय देने के लिए मन्दिरों, गुफाओं और ग्रंथों में कुशल चित्रकारों द्वारा चित्रों का निर्माण कराया है। इस प्रकार धर्माश्रय और राज्याश्रय पाकर जैन चित्रकला में आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक और प्राकृतिक रहस्यों की अभिव्यंजना की गयी है।

जैन चित्रकला का प्रारम्भ तत्त्व के स्वरूप को समझाने की दृष्टि से हुआ था। गुरु अपने शिष्यों को विश्व-व्यवस्था के तत्त्व चित्रमय स्थापना करके समझाते थे। स्थापना तदाकार और अतदाकार – दोनों प्रकार की होती है। तदाकार से तात्पर्य यह है कि जिस तत्त्व को समझाना है उसी तत्त्व का आकार स्थापित कर उसे समझाना। अतदाकार से तात्पर्य यह है कि जिस तत्त्व को समझाना है उस आकार की स्थापना न करके अपितु किसी अन्य वस्तु के आकार की स्थापना करके उसमें उस तत्त्व को समझाना अतदाकार स्थापना है। तदाकार स्थापना के दो प्रयोजन हैं –तत्त्व का प्रकाशन करना और उस तत्त्व की स्मृति को बनाये रखना। तत्त्व प्रकाशन स्थापना के आधार पर चित्रकला और स्मृति हेतुक स्थापना के आधार पर मूर्तिकला का विकास हुआ।

२.३ चित्रकला के प्रकार (Kinds of Painting)

जैन चित्रकला हमें विभिन्न रूपों में प्राप्त होती है, जिनमें मुख्य हैं– १. भित्तिचित्र, २. ताड़पत्रीय चित्र, ३. कागज पर चित्र, ४. काष्ठचित्र, ५. पटचित्र (वस्त्र पर चित्र)।

२.३.१ भित्तिचित्र (Wall Painting)

दो प्रकार के भित्ति (दीवार पर) चित्र के उदाहरण हमें प्राप्त होते हैं – १. गुहान्तर्गत भित्तिचित्र, २. चैत्यालयान्तर्गत भित्तिचित्र

गुहान्तर्गत भित्तिचित्र (Painting on the Wall of the Caves)

जैन चित्रकला के सबसे प्राचीन उदाहरण हमें राजा महेन्द्र वर्मा के द्वारा निर्मित सित्तन्नवासल्लीय की गुफा में मिलते हैं। यहाँ की दीवारों पर बने हुए चित्रों की आकृतियां बिल्कुल सजीव मालुम पड़ती हैं। गुफा के अधिकांश चित्र तो नष्ट हो चुके हैं, किन्तु कुछ अब भी इतने सुव्यवस्थित हैं कि जिनसे उनका स्वरूप प्रकट होता है। इनमें आकाश के मेघों के बीच नृत्य करती हुई अप्सराओं की तथा राजा-रानी की आकृतियाँ स्पष्ट और सुन्दर हैं। छत पर दो चित्र कमल-सरोवर के हैं। सरोवर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

केबीच एक युगल का चित्र है, जिसमें स्त्री दाहिने हाथ से कमल-पुष्प तोड़ रही है और पुरुष उससे सटकर बाएँ हाथ में कमल-नाल को कंधे पर लिए खड़ा है। ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि यह चित्र तत्कालीन नरेश महेन्द्र वर्मा और उनकी रानी का ही है।

एलोरा के कैलाशनाथ शैव मन्दिर में एक चित्र पाया गया है, जिसमें एक दिगम्बर मुनि को पालकी में बैठाकर यात्रा निकाली जा रही है। पालकी को चार मनुष्य पीछे से तथा एक मनुष्य आगे से धारण किये हुए हैं। पालकी पर छत्र भी लगा हुआ है। पालकी के आगे पांच योद्धा अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर चल रहे हैं। एलोरा के इन्द्रसभा नामक शैल मन्दिर में भी रंगीन भित्तिचित्रों के चिह्न विद्यमान हैं, किन्तु वे इतने छिन्न-भिन्न और धुंधले हो गये हैं कि उनका विशेष वृत्तान्त पाना असम्भव है।

चैत्यालयान्तर्गत भित्तिचित्र (Paintings on the Wall of Chapel)

१०वीं-११वीं शताब्दी में दक्षिण भारत के जैन मंदिरों की भित्तियों पर चित्रकला के सुन्दर नमूने उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ तिसमलाई के एक जैन मंदिर में आकाश में मेघों के बीच उड़ते हुए पुरुष और देव दिखलाये गये हैं। देव पंक्तिबद्ध होकर समवसरण की ओर जा रहे हैं, साथ में गन्धर्व और अप्सराएँ भी हैं। एक देव पुरुषों के बीच में स्थित है। श्वेत वस्त्र धारण किये अप्सराएँ पंक्तिबद्ध अवस्थित हैं। एक चित्र में दिगम्बर मुनि आहार देने वाली महिला को धर्मोपदेश देते हुए चित्रित किये गए हैं। एक अन्य चित्र में एक देवता चतुर्भुज एवं त्रिनेत्र दिखाई देते हैं, जो संभवत: इन्द्र हैं। श्रवणबेलगोला के जैन मठ में भित्ति के ऊपर पार्श्वनाथ के समवसरण का चित्रण किया गया है। लेश्या का चित्र भी सुन्दर है, जिसमें फल से लदे वृक्ष के नीचे छ: व्यक्तियों को खड़ा कर चित्रकार ने उनकी भावनाओं का स्पष्ट चित्रण किया है।

२.३.२ ताड़पत्रीय चित्र (Paintings on Taarpattr)

जैन मन्दिरों में भित्ति-चित्रों की कला का विकास ११वीं शताब्दी तक विशेष रूप से पाया जाता है। उसके बाद चित्रकला का आधार ताड़पत्र बना। इस काल से लेकर १४वीं-१५वीं शताब्दी तक के हस्तलिखित ताड़पत्र ग्रंथ जैन शास्त्र भण्डारों में सहस्रों की संख्या में पाये जाते हैं। चित्र प्राय: लेख के ऊपर, नीचे एवं दायें-बायें हाशियों पर बने हुए हैं। कहीं-कहीं पत्र के मध्य में भी बने हुए हैं। ये चित्र प्राय: शोभा बढ़ाने के लिए अथवा धार्मिक रुचि बढ़ाने के लिए बनाये गये हैं। ऐसे चित्र बहुत ही कम हैं, जिनका विषय ग्रंथ से संबंधित हो।

सबसे प्राचीन चित्रित ताड़पत्र ग्रंथ दक्षिण में मैसूर राज्य के अन्तर्गत मूड्बीबि तथा उत्तर में पाटन (गुजरात) के जैन भण्डारों में मिले हैं। दक्षिण की चित्रकला में श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा में स्थित तिलोयपण्णति और त्रिलोकसार की ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियां भी चित्रकला की दृष्टि से गणनीय हैं। इन दोनों प्रतियों में मन्दिर, सुमेरु, लोक, अधोलोक, ऊर्ध्वलोक, कमल, वीणा आदि के सुन्दर चित्र अंकित हैं।

सन् १२८८ में लिखित सुबाहुकथादि कथासंग्रह की ताड़पत्र प्रति में २३ चित्र हैं, जिनमें से अनेक अपनी विशेषता रखते हैं। एक में भगवान नेमिनाथ की वरयात्रा का सुन्दर चित्रण है।

२.३.४ कागज पर चित्र (Paintings on Paper)

कागज पर लिखी सचित्र पाण्डुलिपियों में सबसे प्रसिद्ध कल्पसूत्र की प्राचीन पाण्डुलिपि है। इसमें ३१ चित्र हैं तथा उसी के साथ जुड़ी हुई कालकाचार्य कथा में अन्य १३ चित्र हैं। पाटन भण्डार की सुपासणाहचरिय की प्रति में ३७ चित्र हैं, इनमें ६ पूरे पत्रों में और शेष पत्रों के अर्ध एवं तृतीय भाग में चित्र अंकित हैं। इन चित्रों में सरस्वती, मातृस्वप्न, विवाह, समवसरण आदि के चित्र सुन्दर हैं।

जैन सिद्धान्त भवन में जैन रामायण, भक्तामर, समवसरणपूजा, त्रिलोकसार पूजा आदि कई कागज की पाण्डुलिपियां सचित्र हैं। जैन रामायण के प्रत्येक पृष्ठ पर कथांश है, उसे चित्रों द्वारा व्यक्त किया गया है। समस्त रामकथा २०० चित्रों में अंकित है। भक्तामर की प्रति में बावन चित्र हैं।

कागज का आधार मिलने पर चित्रकला की रीति में कुछ विकास और परिवर्तन हुआ। ताड़पत्र में विस्तार करने का अवकाश नहीं था, क्योंकि वहाँ दो-ढाई इंच से अधिक चौड़ा क्षेत्र ही नहीं मिल पाता था। कागज में यह कठिनाई जाती रही, चित्रण के लिए पर्याप्त स्थान मिलने लगा। चित्रों में एवं ग्रंथ लेखन में सुवर्ण और चांदी की स्याहियों का प्रचुरता से प्रयोग होने लगा। नाना रंगों के बीच सुवर्ण के समुचित उपयोग से कागज पर की गई चित्रकारी में एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न हो गया।

२.३.५ काष्ठचित्र (Paintings on Wood)

जैन शास्त्र भंडारों में काष्ठ के ऊपर भी चित्र अंकित किये जाने के उदाहरण मिलते हैं। काष्ठपट्टियां ताड़पत्रों की प्रतियों को सुरक्षित रखने के लिए बनायी जाती थी। एक २७ इंच लम्बा और ३ इंच चौड़ा काष्ठचित्र मुनि जिनविजयजी को जैसलमेर के ज्ञान भण्डार से प्राप्त हुआ है। इस काष्ठ के मध्य में जैन मन्दिर की आकृति है, जिसमें जिनमूर्ति के दोनों ओर परिचारक खड़े हैं। दाहिनी ओर के कक्ष में दो उपासक अंजलिमुद्रा में स्थित है, दो व्यक्ति डिंडिम बजा रहे हैं और दो नर्तकियां नृत्य कर रही हैं।

जैसलमेर के भण्डार में ३० इंच लम्बा और ३ इंच चौड़ा एक और काष्ठचित्र है, जिसमें वादिदेवसूरि और कुमुदचन्द्र के बीच हुए शास्त्रार्थ सम्बन्धी घटनाओं को चित्रित किया गया है। वि.सं. १४५६ में लिखित सूत्रकृतांगवृत्ति की ताड़पत्रीय प्रति का काष्ठ पट साढ़े चौंतीस इंच चौड़ा और महावीर की घटनाओं से चित्रित पाया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

२.३.६ पटचित्र (वस्त्र पर चित्रकारी) (Paintings on Cloth)

वस्त्र पर चित्र बनाने की कला भारतवर्ष में बड़ी प्राचीन है। पाली ग्रंथों एवं जैन आगमों में इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। पटचित्रों का उल्लेख आदिपुराण, हरिवंश पुराण और पद्मपुराण में आया है। प्रेमी, प्रेमिकाएँ अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए चित्रपट (कपड़े पर चित्र) बनाकर अपने अनुचरों को पटचित्र सहित जिनालयों में भेजती थीं। श्री अगरचंद नाहटा के संग्रह में चिन्तामणि नामक एक पटचित्र साढ़े उन्नीस इंच लम्बा और साढ़े सत्तरह इंच चौड़ा वि.सं. १४१० का है। इसमें पद्मासन में विराजमान पार्श्वनाथ को धरणेन्द्र और पद्मावती सहित चित्रित किया गया है। एक पटचित्र साराभाई नबाब के संग्रह में और दूसरा डॉ. कुमार स्वामी के संग्रह में भी है। इन पटों की चित्रकला सामान्य है, इनका उपयोग मन्त्र साधना या अन्य प्रकार की उपासना के लिए किया जाता था।

२.४ जैन मूर्तिकला (Jain Sculpture)

कालक्रम से जैन परम्परा में मूर्तिपूजन का कार्य प्रारम्भ हुआ। सिद्धान्त की दृष्टि से इसमें दो धाराएँ हैं – कुछ सम्प्रदाय मूर्ति की पूजा करते हैं तथा कुछ सम्प्रदाय नहीं करते। परन्तु कला की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। जैन धर्म में मूर्तिपूजा संबंधित उल्लेख प्राचीनतम काल से पाये जाते हैं। जैनागमों में जैन तीर्थंकरों एवं यक्षों की मूर्तियों से सम्बन्धी उल्लेख तो पाये ही जाते हैं किन्तु इसके अतिरिक्त कलिंग नरेश खारवेल के ई.पू. द्वितीय शती के हाथीगुम्फा वाले शिलालेख से यह प्रमाणित होता है कि नंदवंश के राज्यकाल अर्थात् ई.पू. चौथी-पांचवी शती में जिन भगवान की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की जाती थीं।

वर्तमान में सबसे प्राचीन जैन मूर्ति पटना के लोहनीपुर स्थान से प्राप्त हुई है। यह मूर्ति मौर्यकाल की मानी जाती है और पटना म्यूजियम में रखी हुई है। इसकी चमकदार पॉलिश अभी तक भी ज्यों की त्यों बनी हुई है।

मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा से जो मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, उनसे भारतीय मूर्तिकला का इतिहास ही बदल गया है। उसकी परम्परा सहस्रों वर्ष पूर्व की प्रमाणित हो चुकी है। लोहनीपुर से प्राप्त मस्तकहीन नग्न मूर्ति और हड़प्पा से प्राप्त मस्तकहीन नग्न मूर्ति में बड़ा साम्य पाया जाता है। पूर्वोत्तर परम्परा के आधार पर हड़प्पा की मूर्ति वैदिक और बौद्ध मूर्ति प्रणाली से सर्वथा विसदृश और जैन प्रणाली से पूर्णतया अनुकूल सिद्ध होती है। लाहौर, मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदि के म्यूजियमों में भी अनेक जैन मूर्तियाँ मौजूद हैं। इनमें से कुछ गुप्तकालीन हैं। श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है कि मथुरा में चौबीसवें तीर्थंकर महावीर की एक मूर्ति मिली है, जो कुमारगुप्त के समय तैयार की गई थी। वास्तव में मथुरा में जैन-मूर्तिकला की दृष्टि से भी बहुत काम हुआ है। श्री रामकृष्णदास ने लिखा है कि मथुरा की शुंगकालीन कला मुख्यत: जैन सम्प्रदाय की है। श्रवणबेलगोला की प्रसिद्ध जैन-मूर्ति तो संसार की अद्भुत वस्तुओं में से है। यह गोमटेश्वर बाहुबलि की ५७ (सतावन) फुट ऊँची मूर्ति एक ही पत्थर में उत्कीर्ण है। इसकी स्थापना राजमल्ल नरेश के प्रधानमंत्री तथा सेनापति चामुण्डराय ने ई. सन् ९७३ में की थी। यह अपने अनुपम सौन्दर्य और अद्भुत कान्ति से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यह विश्व को जैन-मूर्तिकला की अनुपम देन है। मध्य भारत (वडवानी) में भगवान ऋषभदेव की ८४ फुट ऊँची मूर्ति एशिया की सबसे बड़ी मूर्ति मानी जाती है।

२.४.१ कुषाण-कालीन जैन मूर्तियाँ (Jain Idols of the Kushan-Period)

इतिहासकालीन जैन मूर्तियों के अध्ययन की प्रचुर सामग्री हमें मथुरा के संग्रहालय में एकत्रित ४७ मूर्तियों से प्राप्त होती है। इनमें से अनेक मूर्तियों पर लेख भी खुदे मिले हैं, जिनसे उनका काल-विभाजन भी सुलभ हो जाता है।

तीर्थंकरों की समस्त मूर्तियां दो प्रकार की पाई जाती हैं – एक खड़ी हुई, जिसे कायोत्सर्ग या खड्गासन कहते हैं और दूसरी बैठी हुई पद्मासन में हैं। समस्त मूर्तियां नग्न एवं नासाग्र दृष्टि, ध्यान-मुद्रा में ही हैं। पार्श्वनाथ की एक सुन्दर मूर्ति का सिर और उस पर नागफण मात्र सुरक्षित मिला है। फणों के ऊपर स्वस्तिक, रत्नपात्र, त्रिरत्न, पूर्णघट और मीनयुगल इन मंगल द्रव्यों के चिह्न बने हुए हैं। सिर पर घुंघराले बाल हैं।

२.४.२ गुप्तकालीन जैन मूर्तियाँ (Jain Idols belonging to the Gupta-Period)

इस युग का प्रारम्भ ईसा की चौथी शती से प्रारम्भ होता है। इस युग की ३७ प्रतिमाओं का परिचय उक्त मथुरा संग्रहालय की सूची में कराया गया है। इस युग में तीर्थंकर की मूर्तियों के सामान्य लक्षण तो वे ही पाये जाते हैं जो कुषाणकाल में विकसित हो चुके थे, किन्तु उनके परिकरों में अब कुछ वैशिष्ट्य दिखलाई देता है। जैसे एक प्रतिमा के सिंहासन पर एक पार्श्व में अपनी थैली सहित धनपति कुबेर और दूसरे पार्श्व में अपनी बायीं जंघा पर बालक को बैठाये हुए मातृदेवी (अम्बिका) की प्रतिमा दिखाई देती है। इनके ऊपर दोनों ओर चार-चार कमल पर आसीन प्रतिमाएँ दिखाई गई हैं, जो सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि और राहु – इन आठ ग्रहों की प्रतीक मानी गई हैं।

नवग्रह और अष्ट प्रातिहार्य से युक्त एक जिन-प्रतिमा मध्यप्रदेश में जबलपुर के पास सलीमानाबाद से एक वृक्ष के नीचे प्राप्त हुई थी। जो वहां की जनता के द्वारा खैरामाई के नाम से पूजी जाती है।

राजगिरि के वैभार पर्वत पर नेमिनाथ की एक मूर्ति ध्यान देने योग्य है, जिसके सिंहासन के मध्य में धर्मचक्र को पीठ पर धारण किये हुए एक पुरुष और उसके दोनों पार्श्वों में शंखों की आकृतियाँ पाई जाती हैं। इस मूर्ति के खंडित लेख में चन्द्रगुप्त का नाम पाया जाता है, जो लिपि के आधार पर गुप्तवंशी नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय का वाची है, ऐसा अनुमान किया जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

२.४.३ धातु की मूर्तियाँ (Idols of Metal)

पाषाण के अतिरिक्त धातु-निर्मित प्रतिमाएँ भी अति प्राचीन काल से पाई जाती हैं। ब्रोन्ज (ताम्र एवं शीशा मिश्रित धातु) की बनी एक पार्श्वनाथ की प्रतिमा बम्बई के प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय में है। वह कायोत्सर्ग मुद्रा में है। उसका दाहिना हाथ और नागफण खण्डित है। इसकी आकृति लोहानीपुर की मस्तकहीन मूर्ति से तथा हड़प्पा के लालपाषाण की सिर-हीन मूर्ति से बहुत साम्य रखती है। विद्वानों का मत है कि यह मूर्ति मौर्यकालीन होनी चाहिए।

इसी प्रकार की दूसरी धातु-प्रतिमा आदिनाथ तीर्थंकर की है, जो बिहार में आरा के चौसा नामक स्थान से प्राप्त हुई है और पटना-संग्रहालय में सुरक्षित है। यह भी पार्श्वनाथ की मूर्ति से बहुत साम्य रखती है। लगभग १४वीं शती से पीतल की 'जिन' मूर्तियों का भी प्रचार हुआ पाया जाता है। आबू के पित्तलहर मन्दिर में विराजमान आदिनाथ की पीतल की मूर्ति १०८ मन की है और वह वि.सं. १५२५ में प्रतिष्ठित की गई थी।

हरियाणा राज्य में हाँसी के पास अतिशय क्षेत्र में भी कुछ अष्टधातु निर्मित मूर्तियाँ मिली हैं।

२.४.४ चक्रेश्वरी, पद्मावती आदि यक्षियों की मूर्तियाँ (The Idols of Demigoddesses)

जैन मूर्तिकला में तीर्थंकरों के अतिरिक्त जिन अन्य देवी-देवताओं को रूप प्रदान किया गया है, उनमें यक्षों और यक्षिणियों की प्रतिमाएँ भी ध्यान देने योग्य है। प्रत्येक तीर्थंकर के एक यक्ष और एक यक्षिणी माने गये हैं। तीर्थंकर ऋषभ की यक्षिणी का नाम चक्रेश्वरी है। इस देवी की एक ढाई फुट ऊँची पाषाण मूर्ति मथुरा संग्रहालय में है। यह मूर्ति एक गरुड़ पर आधारित आसन पर स्थित है। श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि पर्वत पर शासन-वस्ति नामक आदिनाथ के मन्दिर के द्वार पर आजू-बाजू गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी यक्षिणी की सुन्दर प्रतिमाएँ हैं। अक्कन बस्ति नामक पार्श्वनाथ मन्दिर की साढ़े तीन फुट ऊँची धरणेन्द्र यक्ष और पद्मावती यक्षिणी की मूर्तियाँ भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

२.४.५ अम्बिका देवी की मूर्ति (The Idols of Goddess Ambika)

तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षिणियों में सबसे अधिक प्रचार एवं प्रसिद्धि नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका देवी की पाई जाती है। इस देवी की सबसे प्राचीन एवं विख्यात मूर्ति गिरनार पर्वत की अम्बादेवी नामक टोंक पर है, जिसका उल्लेख आचार्य समन्तभद्र ने अपने बृहत्स्वयंभूस्तोत्र में किया है। इस प्रकार तीर्थंकरों, देवी-देवताओं, यक्ष-यक्षिणियों की अनेक मूर्तियाँ पाई जाती हैं, जिससे हम जैन मूर्तिकला के वैशिष्ट्य का अनुमान लगा सकते हैं।

२.५ जैन स्थापत्य कला

जैन स्थापत्य कला के सर्वाधिक प्राचीन अवशेष उदयगिरि, खण्डगिरि एवं जूनागढ़ की गुफाओं में मिलते हैं।

स्थापत्य की दृष्टि से चित्तौड़ का 'कीर्ति-स्तम्भ', आबू के मन्दिर एवं रणकपुर के जैन मन्दिरों के स्तम्भ भारतीय शैली के रक्षक रहे हैं।

२.६ लिपिकला (Calligraphy)

चित्रकला, मूर्तिकला की भांति लिपिकला भी एक सुकुमार कला है। जैन साधुओं ने इसे बहुत ही विकसित किया। वे सौन्दर्य और सूक्ष्मता – दोनों दृष्टियों से इसे उन्नति के शिखर तक ले गए।

पन्द्रह सौ वर्ष पहले लिखने का कार्य प्रारम्भ हुआ और वह अब तक विकास पाता रहा है। लेखन-कला में यतियों का कौशल विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है।

तेरापंथ के साधुओं ने भी इस कला में चमत्कार प्रदर्शित किया है। सूक्ष्मलिपि में ये अग्रणी हैं। कई मुनियों ने ग्यारह इंच लंबे और पांच इंच चौड़े पन्ने में लगभग ८० हजार अक्षर लिखे हैं। ऐसे पन्ने आज तक अपूर्व माने जाते रहे हैं।

२.७ जैन-तीर्थस्थल (Jain Places of Pilgrimage)

जैनागमों से ज्ञात होता है कि तीर्थ से तात्पर्य जिन-प्रवचन या चतुर्विध संघ से है। **'तीर्यते संसार सागरो येन तत् तीर्थम्'** – संसार सागर को पार करने वाले जिनागम भावतीर्थ हैं और नदी, समुद्रों को पार कराने वाले तीर्थों को द्रव्य तीर्थ कहा जाता है।

यहां तीर्थ से तात्पर्य उन स्थान विशेषों से है, जहाँ कोई साधक साधना करते हुए सिद्धि को प्राप्त करता है या जहाँ जाने पर मन को अपूर्व शांति मिलती है, ऐसे स्थलों को तीर्थस्थल कहा जाता है। जैन धर्म में ऐसे प्राचीन और नवीन तीर्थस्थल अनेक हैं। जिनमें से कुछ का उल्लेख इस प्रकार है –

२.७.१ शत्रुंजय (Shatruanjaya)

सौराष्ट्र में पालीताना स्टेशन से दो मील दूरी पर एक पर्वत श्रृंखला है। वह शत्रुंजय के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर भगवान ऋषभ का भव्य मन्दिर है। जैन तीर्थों में यह आदितीर्थ माना जाता है। इसका दूसरा नाम पुण्डरीक है। प्रतिवर्ष अक्षय तृतीया के दिन यहाँ 'वर्षीतप' का पारणा करने के लिए हजारों तपस्वी, भाई-बहिनें और हजारों यात्री आते हैं।

पहाड़ पर चढ़ने के लिए भव्य सोपान-मार्ग है। नगर में बड़ी-बड़ी धर्मशालाएँ हैं। यहाँ सैकड़ों जैन साधु-साध्वियाँ हैं। महाराज कुमारपाल ने लाखों रुपये

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

खर्च कर यहाँ के मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया था। यहाँ से अनेक मुनि निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। थावचापुत्त का भी यहीं निर्वाण हुआ।

२.७.२ सम्मेदशिखर (Sammed-Shikhan)

सम्मेदशिखर अत्यन्त पवित्र, अत्यन्त प्राचीन तीर्थस्थल है। यह बिहार के हजारी बाग जिले का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी पहचान वर्तमान पारसनाथ हिल से की जाती है। इस सम्मेदशिखर पर बीस तीर्थंकरों ने निर्वाण प्राप्त किया है। आज भी अनेक श्रद्धालु पवित्र उद्देश्य से इस शिखर की यात्रा करते हैं। इसे समाधिगिरि या समिदगिरी भी कहा जाता है।

२.७.३ श्रवणबेलगोला (Shravan Bela Gola)

जैनों का यह प्रसिद्ध तीर्थ कर्नाटक प्रान्त के हासन जिले में है। यह चन्द्रगिरि और विंध्यगिरि – इन दो पर्वतों की तलहटी में एक सरोवर पर स्थित है। इसे गोम्मट तीर्थ कहा जाता है। यहाँ गोम्मटेश्वर बाहुबली की ५७ फुट ऊँची मूर्ति है। इसकी स्थापना राजमल्ल नरेश के प्रधानमंत्री तथा सेनापति चामुण्डराय ने कराई थी। चामुण्डराय का घरेलु नाम गोम्मट था, सम्भवत: इसी आधार पर उसके द्वारा स्थापित मूर्ति को गोम्मटेश्वर कहा गया। विद्वानों ने स्थापना की तिथि २३ मार्च, सन् १०२८ निश्चित की है। यह मूर्ति एक ही पत्थर में उत्कीर्ण है। यह विश्व का आठवां आश्चर्य माना जाता है। बारह वर्षों में एक बार इसका मस्तकाभिषेक होता है।

श्रवणबेलगोला तीन शब्दों से बना है। श्रमण का अर्थ है – जैन साधु, बेल का अर्थ है – श्वेत और गोल का अर्थ है – सरोवर। श्रवणबेलगोल यानि जैन मुनियों का धवल सरोवर। कहते हैं कि उत्तर भारत में जब भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था तब भद्रबाहु स्वामी के नेतृत्व में मुनियों के एक समूह ने इसी सरोवर के किनारे तपस्या की थी, संभवत: यही इस नाम की सार्थकता है।

२.७.४ रणकपुर (Ranakpur)

अरावली पर्वत श्रृंखलाओं के मध्य में रणकपुर नाम का गांव है। यह राजस्थान के पाली जिले के अन्तर्गत है। यह फालना स्टेशन से लगभग २२ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है।

ऐसा माना जाता है कि नंदीपुर गांव में जिनेश्वर उपासक धरणाशाह को एक रात्रि में स्वप्न आया। स्वप्न में उन्होंने 'नलीनीगुल्म' विमान देखा। उस विमान की आकृति से प्रभावित होकर उन्होंने उसी आकृति का जिनालय बनाने की प्रतिज्ञा की। इसमें लगभग एक करोड रुपया व्यय हुआ। १४९५ में इसकी नींव डाली गई और १४९८ में यह मन्दिर बनकर तैयार हुआ। इसमें २४ रंगमंडप, १८४ गृह, ८५ शिखर और १४४४ स्तम्भ हैं। भगवान आदिनाथ की मूर्ति की स्थापना इस प्रकार की गई है कि व्यक्ति मन्दिर में किसी भी स्थान पर, किसी भी कोण में खड़ा रहे, उसे प्रतिमा के दर्शन होते हैं। इसका प्रस्तरशिल्प बहुत ही अनोखा और हृदयग्राही है।

इस मन्दिर के निर्माता धरणाशाह के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि एक दिन धरणाशाह मन्दिर का निर्माण देखने गए। वहाँ एक दीपक जल रहा था और उसके तेल में एक मक्खी गिर गई। उन्होंने तेल में से मक्खी को निकाला और उसे अपने जूते पर रख लिया ताकि उसके शरीर पर लगा तेल व्यर्थ न जाये। कारीगरों ने यह देखा तो उनका मन-संदेह से भर गया। उन्होंने सोचा – इतना कंजूस व्यक्ति इतने विशाल जिनालय का निर्माण कैसे करवा पायेगा ? परीक्षा लेने की दृष्टि से उन्होंने धरणाशाह से कहा – इतना विशाल जिन-भवन पत्थर की नींव पर टिक नहीं सकेगा। अत: नींव में सर्वधातुओं का प्रयोग करना पड़ेगा। धरणाशाह ने तत्काल विपुल मात्रा में 'सर्वधातु' एकत्रित करवाकर शिल्पियों को विस्मित कर दिया। उनकी यह मान्यता थी कि व्यर्थ एक पैसे का भी खर्च न हो और आवश्यक खर्च में कमी भी न हो।

२.७.५ राजगृह (Raj-Griha)

यह बिहार शरीफ से दक्षिण की ओर १३-१४ मील की दूरी पर स्थित है। पाँच पहाड़ियों से घिरा हुआ होने के कारण इसे गिरिव्रज भी कहा जाता है। विपुल, रत्न, उदय, स्वर्ण और वैभार – ये पाँच पहाड़ियाँ हैं। इनमें विपुल और वैभार पर्वत का बहुत महत्त्व है। अनेक मुनियों ने विपुल पर्वत पर तपस्या कर मोक्ष प्राप्त किया था। आज भी वहां पर अनेक गुफाएँ हैं।

वैभार पर्वत के नीचे गरम पानी का एक कुंड है। आज भी वहाँ गरम पानी का स्रोत विद्यमान है। उसमें नहाने से चर्मरोग का निवारण होता है, ऐसा बताया जाता है। अत: हजारों लोग वहाँ नहाते हैं।

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध ने राजगृह में अनेक चातुर्मास किये थे। महावीर प्राय: गुणशील चैत्य में ठहरते थे। वर्तमान में नवादा स्टेशन से लगभग तीन मील दूरी पर स्थित गुणावा को प्राचीन गुणशील माना जाता है।

२.७.६ पावापुरी (Pawapuri)

यह बिहार शरीफ से ११ किलोमीटर दूर दक्षिण-पूर्व में स्थित है। यहाँ अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था। जिस स्थान पर भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था, वहाँ पर पद्म सरोवर नामक एक विशाल एवं सुन्दर सरोवर है। किंवदन्ती के अनुसार पहले यह समतल क्षेत्र था और निर्वाण के समय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

असंख्य देव-देवियों एवं नर-नारी कल्याणक मनाने के लिए यहाँ एकत्रित हुए थे। उस समय हर एक ने चुटकी भर धूल ले मस्तक पर धारण की। भीड़ इतनी थी कि सबके द्वारा एक-एक चुटकी भर धूल लेने से वह समतल स्थान सरोवर बन गया। इस सरोवर के मध्य श्वेत संगमरमर का एक जैन मन्दिर है, जो जलमन्दिर कहलाता है। मन्दिर तक पहुँचने के लिए लाल-पत्थर का एक सुन्दर पुल बना हुआ है। मन्दिर में तीन युगल चरणचिह्न बने हुए हैं। बीच में महावीर के हैं, बायीं ओर गौतम स्वामी के हैं और दाईं ओर सुधर्मा स्वामी के हैं।

भगवान महावीर के निर्वाणोत्सव पर आज भी श्रद्धालुओं की भीड़ इस स्थान पर देखने को मिलती है।

२.७.७ आबू (Mount Abu)

दक्षिणी राजस्थान के सिरोही जिले के अन्तर्गत आबू की रमणीय पहाड़ियाँ हैं। इसका प्राचीन नाम अर्बुद है। आबू जैन मन्दिरों के लिए प्रख्यात है। उन मंदिरों में दो प्रमुख हैं। भगवान ऋषभ का मन्दिर सोलंकी नरेश के मंत्री विमलशाह ने ईस्वी सन् १०३२ में बनवाया। भगवान नेमिनाथ-मन्दिर के निर्माता वस्तुपाल और तेजपाल हैं। ये दोनों सगे भाई थे। इनके पास अपार सम्पत्ति थी। इन्होंने पत्थर को उत्कीर्ण करने वाले कारीगरों को, पत्थर से निकलने वाले टुकड़ों के बराबर चांदी देकर उनका उत्साह बढ़ाया था। आज भी यह मंदिर उत्कीर्ण कला का उत्कृष्ट नमूना है। माना जाता है कि इसके निर्माण में करोड़ों रुपये खर्च हुए। इसका निर्वाण सन् १२३२ में हुआ।

२.७.८ ऋषभदेवजी (Rishabhadevaji)

राजस्थान के दक्षिणी अंचल में धुलेव नाम का कस्बा है। यह उदयपुर से ६४ किलोमीटर दूर उपत्यकाओं से घिरा हुआ है। यहां 'कोयल' नाम की नदी बहती है। यहीं ऋषभदेव का विशाल मंदिर है। यह एक किलोमीटर के घेरे में स्थित पक्के पाषाण का मन्दिर है। माना जाता है कि पहले यहां ईंटों का बना हुआ मन्दिर था। वह टूट गया। फिर १४वीं-१५वीं शताब्दी में यह पाषाणमय मंदिर बना। इस मन्दिर के गर्भगृह में भगवान ऋषभदेव की पद्मासन में स्थिर श्यामवर्णीय भव्य प्रतिमा है। इसकी ऊंचाई साढ़े तीन फुट की है। इस मूर्ति पर केसर अधिक चढ़ाई जाती है इसलिए इसे 'केसरियाजी' या 'केसरियानाथजी' भी कहते हैं। यह प्रतिमा बहुत ही चामत्कारिक है। इसलिए जैन, अजैन, भील तथा अन्य जाति के लोग यहां हजारों की संख्या में आते हैं और मनौती करते हैं। भील लोग इस मूर्ति को 'कालाजी' कहकर पुकारते हैं और उनके मन में इसके प्रति इतनी श्रद्धा और विश्वास है कि 'कालाजी की आण' को वे सर्वोपरि मानते हैं।

२.८ जैन धर्म के प्रचार में राजाओं का योगदान
(Contribution of Kings to the Propagation of Jain Religion)

भगवान महावीर ने जैन धर्म को युगानुरूप बनाया। उनके सिद्धान्त केवल बुद्धि विलास मात्र नहीं थे अपितु युगीन समस्याओं का समाधान देने वाले थे। जिसके कारण अनेक राजवंशों में उनका असीम प्रभाव था और उन राजाओं ने जैन धर्म के प्रसार में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

जैन राजा और राजवंश (Jain Kings)

प्रागैतिहासिक काल से ही अनेक राजा एवं राजवंश श्रमण धर्म अथवा निर्ग्रन्थ धर्म के अनुयायी रहे हैं। सभी तीर्थंकर राजवंश के थे, राजा अथवा युवराज रूप में दीक्षित हुए थे। उन्हें छोड़ भी दिया जाए तब भी भगवान महावीर के जीवन काल तथा उनकी उत्तरवर्ती परम्परा में होने वाले राजाओं, मंत्रियों, दण्डनायकों एवं अधिकारियों का जीवनवृत्त भी बहुत विशाल है। जैन राजा, मन्त्री आदि अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा, प्रामाणिकता एवं प्रजापालकता के कारण विधर्मी राजाओं के लिए भी विश्वासपात्र एवं आदर्श रहे हैं।

भगवान महावीर के समय भारत में गणतन्त्र और राजतन्त्र दोनों प्रकार की शासन प्रणालियाँ थीं। अनेक राजे महावीर के भक्त थे। अनेक राजे जैन परम्परा में दीक्षित हुए। श्रेणिक, कोणिक, उदायि आदि राजाओं के पश्चात् नन्द राजाओं ने जैन धर्म को संरक्षण दिया। नंदों के उत्तराधिकारी राजा जैन धर्म के प्रश्रयदाता रहे हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य दृढ़ जैन था। वह आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण गया और दक्षिण भारत में कर्नाटक प्रदेश की 'चंद्रगिरि' पहाड़ी पर समाधिपूर्ण मरण प्राप्त किया।

सम्राट् अशोक का पुत्र कुणाल जैन धर्मावलम्बी था। वह उज्जयिनी प्रदेश का राज्यपाल था। कुणाल के पुत्र सम्प्रति ने जैनधर्म के विस्तार के लिए बहुत प्रयत्न किया।

उड़ीसा में लगभग सात शताब्दियों तक जैन धर्म का प्रभुत्व रहा। इस प्रकार ईसा पूर्व की पहली-दूसरी शताब्दी से ईसा की दसवीं शताब्दी तक अनेक स्थानों पर जैन राजे, जैन मंत्री, जैन कोटपाल, जैन कोषाध्यक्ष आदि पद पर थे। दक्षिण भारत में लगभग हजार वर्ष तक जैन शासकों का प्रभुत्व रहा। जैन राजाओं का जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उनमें प्रमुख हैं – सम्राट श्रेणिक, महाराज सम्प्रति, चक्रवर्ती खारवेल आदि।

२.८.१ मगध सम्राट श्रेणिक (The King of Magadha : Shrenika)

हिन्दू, बौद्ध और जैन – इन तीनों ही भारतीय धर्म-परम्पराओं में सम्राट श्रेणिक का उल्लेख मिलता है। सभी सम्प्रदायों द्वारा इन्हें अपने धर्म का अनुयायी घोषित किया गया है। लेकिन ऐतिहासिक छान-बीन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट श्रेणिक पितृ-परम्परा से ही जैन थे। हो सकता है अपने काल में किसी अन्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सम्प्रदाय के सम्पर्क में गये हों और जैन धर्म के प्रति उदासीनता रखने लगे हों। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि पटरानी चेलना ने सम्राट को जैन बनाने के अनेक प्रयत्न किये और सम्राट ने उसे बौद्ध बनाने के लिए अनेक प्रयत्न किये। पर कोई भी किसी ओर नहीं झुका। एक दिन जब सम्राट ने अनाथी मुनि को उद्यान में ध्यानलीन देखा। उनके निकट गये। वार्तालाप हुआ और अन्त में अनाथी मुनि से धर्मबोध मिलने के पश्चात् जैन धर्म के साथ सम्राट श्रेणिक की घनिष्टता उत्तरोत्तर बढ़ती गई।

सम्राट श्रेणिक अपनी शक्ति के अनुसार धर्म-साधना स्वयं तो करते ही थे, साथ-साथ दूसरों को भी इस क्षेत्र में प्रेरित करते रहते थे। उसकी जैन शासन के प्रति आंतरिक अभिरुचि, जैन सिद्धान्तों के प्रति अटूट आस्था तथा भगवान महावीर के प्रति अपूर्व भक्ति सचमुच ही जैन धर्म की प्रभावना का प्रबल निमित्त बनी थी।

जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में सम्राट श्रेणिक की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण रही। उसकी प्रजा पर भी जैन धर्म का पूरा प्रभाव था। इसीलिए श्रेणिक के युग में राजगृह जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र बन गया था। अनेक विदेशी राज्यों के साथ भी उन्होंने मैत्री सम्बन्ध स्थापित किए और भगवान महावीर का संदेश भी वहां तक पहुँचाया। श्रेणिक ने ५२ वर्ष पर्यन्त मगध का शासन किया। उनके शासन काल में जैन धर्म का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ।

२.८.२ महाराजा सम्प्रति (King Samprati)

बौद्ध धर्म सारे भारत और भारत के बाहर भी कुछ स्थानों पर सम्राट अशोक के द्वारा किये गये प्रयासों के कारण फैला। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार ऐसा ही प्रयास जैन धर्म के लिए अशोक के पौत्र सम्प्रति ने भी किया था। राजा सम्प्रति जैन आचार्य सुहस्ती से बहुत प्रभावित थे, क्योंकि उन्होंने ही उसे सच्चे धर्म की शिक्षा दी थी। परिणामत: सम्प्रति ने सारे जम्बूद्वीप में जिनमन्दिरों का निर्माण करवाकर अपनी श्रद्धा का प्रदर्शन किया। सम्प्रति ने अपने अधीनस्थ राजाओं को भी जैन धर्म का महत्त्व समझाकर उन्हें जैन धर्मावलम्बी बनाया फलत: उसके राज्य में तथा आस-पास के राज्यों में भी साधुओं के लिए धर्म का पालन आसान हो गया।

भगवान महावीर के काल में विहार के लिए जो आर्य-क्षेत्र की सीमा निश्चित थी, वह महाराज सम्प्रति के काल में बहुत विस्तृत हो गई। उन्होंने अनार्य देशों में भी श्रमणों का विहार करवाया था। अनार्य देशों में अपने कार्यक्षेत्र को बढ़ाने की नीयत से, महाराज सम्प्रति ने जैन साधुओं के वेश में संदेशवाहकों को भिजवाया। उन्होंने लोगों को बतलाया कि साधु भिक्षा में कैसा भोजन लेते हैं और अन्य क्या सामग्री ग्रहण करते हैं। इस प्रकार असभ्य देशों में साधुओं का मार्ग प्रशस्त कर उन्होंने वरिष्ठ आचार्यों को उन देशों में साधुओं को भिजवाने के लिए प्रेरित किया, क्योंकि अब उनका वहाँ रहना इतना कठिन नहीं रह गया था। इस प्रकार असभ्य देशों को जैन धर्म के प्रभाव में लाया गया।

राजा सम्प्रति की धर्म के प्रति इतनी निष्ठा थी कि उसने अपने व्यापारियों को कह दिया था कि साधुओं को जो वस्तु चाहिये वह उन्हें मुफ्त में दे दी जाये और उसकेबदले भुगतान राज्य केकोष से प्राप्त कर लिया जाये। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि आज जो शिलालेख अशोक के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे सम्राट सम्प्रति ने लिखवाए थे। क्योंकि सम्राट अशोक ने शिलालेख लिखवाए हो और उन्हीं के पौत्र तथा उन्हीं के समान धर्म-प्रचार प्रेमी सम्राट सम्प्रति ने शिलालेख न लिखवाए हों, यह कल्पना नहीं की जा सकती। अत: एक बार फिर सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने की आवश्यकता है कि अशोक के नाम से प्रसिद्ध शिलालेखों में कितने अशोक के हैं और कितने राजा सम्प्रति के हैं। इस प्रकार अपने राज्य-काल के अन्त तक सम्प्रति जैनों का संरक्षक बना रहा। जैन धर्म के प्रचार में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देता रहा।

२.८.३ चक्रवर्ती खारवेल (Emperor Kharvel)

खारवेल कलिंग (उड़ीसा) का अत्यन्त प्रतापी चक्रवर्ती नरेश था। इसके शासन काल में उड़ीसा प्रदेश जैन धर्म के सुदृढ़ केन्द्र के रूप में उभर आया था। खारवेल का जन्म लगभग ई.पू. १९० में हुआ। १५ वर्ष की आयु में उन्हें युवराज पद प्राप्त हुआ। २४ वर्ष की आयु में उनका राज्याभिषेक हुआ। लगभग १३ वर्ष तक राज्य किया।

खारवेल के शिलालेखों से यह प्रमाणित होता है कि उस समय केवल इनका ही नहीं अपितु पूरे राज्य का ही मुख्य धर्म जैन धर्म हो गया था। खारवेल के शिलालेखों से उड़ीसा में जैन धर्म की प्राचीनता भी सिद्ध होती है।

ये कलिंग (उड़ीसा) के समर्थ शासक थे। इनका वंश 'चेति' था। इन्होंने पराक्रम से अनेक देशों को जीतकर अपने राज्य में मिलाया। राज्य-प्राप्ति के तेरहवें वर्ष में इन्होंने श्रावक-व्रत स्वीकार किए। इन्होंने केवल तेरह वर्ष तक राज्य किया, किन्तु कलिंग का प्रभाव सारे भारत पर व्याप्त हो गया। शेष जीवन इन्होंने धर्माराधना में बिताया।

इनका इतिहास-प्रसिद्ध हाथीगुम्फा शिलालेख उड़ीसा प्रदेश के पुरी जिले में स्थित भुवनेश्वर से तीन मील की दूरी पर उदयगिरि पर्वत पर बने हुए हाथीगुम्फा मंदिर के मुख एवं छत पर उत्कीर्ण है। इसकी तिथि ई.पू. १५२ है। इसका प्रारंभ अर्हतों और सिद्धों की वंदना से होता है।

खारवेल शूरवीर और साहसी राजा था। अनेक राजाओं को युद्ध में पराजित कर, उन्हें अपने अधीन कर वह चक्रवर्ती सम्राट बना। अपनी दिग्विजय के पश्चात् उसने एक विशाल जैनधर्म का सम्मेलन भी किया और द्वादशांग श्रुत के उद्धार के लिए प्रयत्न किया। जैनधर्म संघ ने इस अवसर पर खारवेल को 'धर्मराजा', 'भिक्षुराजा', 'खेमराजा' आदि उपाधियों से विभूषित किया था।

कलिंग में खारवेल के पश्चात् कोई ऐसा धर्मप्रिय राजा नहीं हुआ, फिर भी उसकेवंशजनरेशोंनेयथासंभव धर्म-प्रचारमें और संरक्षणमें अपना योगदान किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

१.८ बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. जैन चित्रकला के मुख्य प्रकार कौन-से हैं ?

२. सबसे प्राचीन जैन मूर्ति कहाँ प्राप्त होती है ?

३. तीर्थस्थल किसे कहते हैं ?

४. भगवान महावीर का निर्वाण कहाँ हुआ ?

५. महाराज सम्प्रति किसके पौत्र थे ?

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. कला किसे कहते हैं ? जैन चित्रकला का विस्तार से विवेचन करें ?

२. तीर्थस्थल किसे कहते हैं ? जैन तीर्थस्थलों का विवेचन करें ?

३. जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में किन-किन राजाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, विवेचन करें ?

इकाई-४.३ जैन धर्म : भारत के विविध अंचलों तथा विदशों में, जैन धर्म : विकास और ह्रास (Jain Religion in Different Regions of India and Abroad, Jain Religion : Rise and Fall)

इकाई की रूपरेखा

३.० उद्देश्य

३.१ प्रस्तावना

३.२ जैन धर्म : भारत के विविध अंचलों में

३.३ विदेशों में जैन धर्म

३.४ जैन धर्म : विकास और ह्रास

३.५ बोध प्रश्न

३.० उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

* जैन धर्म का प्रभाव भारत के किन-किन अंचलों में हुआ, इसे जान सकेंगे।
* विदेशों में भी जैन धर्म का प्रभाव था, इससे परिचित हो सकेंगे।
* जैन धर्म के विकास और ह्रास के पीछे रहे मुख्य कारणों को समझ सकेंगे।

३.१ प्रस्तावना

इस इकाई में मुख्य रूप से यह बताया गया है कि जैन धर्म का प्रभाव भारत के मुख्य अंचल – बिहार, बंगाल, उड़ीसा, दक्षिण भारत, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश आदि में था।

विदेशों में भी अनेक जैन तीर्थंकरों का विचरण हुआ था, जिससे उस धरती पर भी जैन धर्म का प्रभाव था। जैन धर्म के सिद्धान्त व्यापक तथा हेतुगम्य थे, जिससे जैन धर्म का विकास हुआ। बाह्य कर्मकाण्डों की प्रचुरता, व्यक्तिवादी मनोवृत्ति, प्रभावशाली आचार्यों के कार्यकाल में व्यवधान आदि कुछ ऐसे कारण थे, जो उसके ह्रास के कारण बने।

३.२ जैनधर्म : भारत के विविध अंचलों में (Jain Religion in Different Regions of India)

सम्राट अशोक के पौत्र सम्प्रति ने जैन धर्म का संदेश भारत से बाहर भी पहुंचाया, जिससे जैन मुनियों का विहार क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया। भगवान महावीर के युग में जैन धर्म भारत के विविध अंचलों में फैला। भारत में बिहार, बंगाल, उड़ीसा, गुजरात, उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, महाराष्ट्र राजस्थान, पंजाब आदि जैन धर्म के प्रमुख क्षेत्र हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

३.२.१ बिहार में जैनधर्म (Jain Religion in Bihar)

भगवान महावीर का जन्म बिहार में हुआ। बिहार उनकी तपोभूमि और विहारभूमि भी थी अत: महावीरकालीन जैन धर्म पहले बिहार में पल्लवित हुआ। उनके समय में उनका धर्म प्रजा के अतिरिक्त अनेक राजाओं के द्वारा भी स्वीकृत था। वज्जियों के शक्तिशाली गणतंत्र के प्रमुख राजा चेटक भगवान महावीर के श्रावक थे। वे पहले से ही जैन थे और भगवान पार्श्व की परम्परा को मान्य करते थे।

वज्जी गणतंत्र की राजधानी 'वैशाली' थी। वहां जैनधर्म बहुत प्रभावशाली था। मगध सम्राट श्रेणिक प्रारंभ में बुद्ध का अनुयायी था। अनाथी मुनि के सम्पर्क में आने के पश्चात् वह निर्ग्रन्थ धर्म का अनुयायी हो गया था। इसका विशद वर्णन उत्तराध्ययन के बीसवें अध्ययन में है। श्रेणिक की रानी चेलणा चेटक की पुत्री थी। यह श्रेणिक को निर्ग्रंथ धर्म का अनुयायी बनाने का सतत प्रयत्न करती थी और अन्त में उसका प्रयत्न सफल हो गया। मगध में भी जैन धर्म प्रभावशाली था। श्रेणिक का पुत्र कूणिक भी जैन था। जैन आगमों में महावीर और कूणिक के अनेक प्रसंग हैं।

मगध-शासक शिशुनाग-वंश के बाद नंद-वंश का राज्य बम्बई के सुदूर दक्षिण गोदावरी तक फैला हुआ था। उस समय मगध और कलिंग में जैन धर्म का प्रभुत्व था ही, परन्तु अन्यान्य प्रदेशों में भी उसका प्रभुत्व बढ़ रहा था।

नंद-वंश की समाप्ति हुई और मगध की सम्राज्यश्री मौर्यवंश के हाथ में आई। उसका पहला सम्राट चन्द्रगुप्त था। उसने उत्तर भारत में जैनधर्म का बहुत विस्तार किया। पूर्व और पश्चिम भी उससे काफी प्रभावित हुए। सम्राट चंद्रगुप्त अपने अंतिम जीवन में मुनि बने और श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ दक्षिण में गए थे। चंद्रगुप्त के पुत्र बिंदुसार और उनके पुत्र अशोकश्री (सम्राट् अशोक) हुए। ऐसा माना जाता है कि वे प्रारंभ में जैन थे, अपने परंपरागत-धर्म के अनुयायी थे और बाद में बौद्ध हो गए।

अशोक के उत्तराधिकारी उनके पौत्र संप्रति थे। कुछ इतिहासज्ञ उनका उत्तराधिकारी उनके पुत्र कुणाल को ही मानते हैं, किंतु कुछ जैन लेखकों के अनुसार कुणाल अन्धा हो गया था, इसलिए उसने अपने पुत्र सम्प्रति के लिए ही सम्राट अशोक से राज्य मांगा था।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि महावीर के समय से लेकर १२वीं सदी तक बिहार में जैन धर्म काफी सक्रिय था। यहाँ अधिकतर जो मूर्तियाँ पाई गई हैं, वे नग्न हैं। इससे यह अनुमान लगाना संभव है कि यहां अधिकांश जैन दिगम्बर थे।

३.२.२ बंगाल में जैन धर्म (Jain Religion in Bengal)

हमारे इतिहास में जैन धर्म के प्रभाव की दृष्टि से बंगाल प्रदेश का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। भगवान महावीर स्वयं केवलज्ञान प्राप्ति से पूर्व, लाट (पश्चिमी बंगाल) गये थे जो कि उस समय अनार्य प्रदेश कहलाता था। उससे पूर्व बंगाल में भगवान पार्श्व का ही धर्म प्रचलित था। वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार जैन धर्म के बाद में हुआ। वैदिक धर्म का प्रवेश तो वहाँ बहुत बाद में हुआ।

भगवान महावीर के सातवें पट्टधर श्रुतकेवली भद्रबाहु पौण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) के प्रमुख नगर कोट्टपुर के सोमशर्मा पुरोहित के पुत्र थे। बंगाल में जैन धर्म के अस्तित्व का प्रथम शिलालेख साक्ष्य बंगाल के राजशाही जिले में पहाड़पुर में मिला ताम्रपत्र का लेख है। इस लेख की तिथि गुप्त संवत् १५९ (ई.सं. ४९७) है। बंगाल में आज भी स्थान-स्थान पर जैन ध्वंसावशेष, शिलालेख आदि की प्रचुरता इस बात का संकेत करती हैं कि इस प्रदेश में जैन धर्म अत्यधिक पल्लवित रहा है।

सेन कुछ बंगाली शब्दों की उत्पत्ति जैनों से मानते हैं। उदाहरणार्थ जैन साधुओं का उत्तरीय 'पछेरी' कहलाता है। बंगाली में यही शब्द 'पाछेरी' हो गया है। जैन साधुओं के प्रयोग में लायी जाने वाली झाड़ू 'पीछी' कहलाती है। पूर्वी बंगाल में भी झाड़ू को 'पीछा' कहते हैं। अत: यह मानना होगा कि बंगाल में भी जैन धर्म का प्रभाव काफी था।

३.२.३ उड़ीसा में जैन धर्म (Jain Religion in Orissa)

ई.पू. दूसरी शताब्दी में उड़ीसा में जैन धर्म बहुत प्रभावशाली था। सम्राट खारवेल का उदयगिरि पर्वत पर हाथीगुंफा का शिलालेख इसका स्वयं प्रमाण है। यह शिलालेख **'नमो अरहंतानं, नमो सव सिधानं'** की प्रार्थना से प्रारम्भ होता है। यह प्रार्थना की जैनविधि है। खारवेल जैन था और उसकी धर्म के प्रति गहरी आस्था थी। उसने ३७ वर्ष की छोटी अवस्था में श्रावक व्रत स्वीकार कर लिया और शेष सारा जीवन धर्माराधना में बिताया। द्वादशांग श्रुत के उद्धार में भी उसका अविस्मरणीय योगदान रहा। इस प्रकार उड़ीसा में जैन धर्म, ई.पू. प्रथम सदी से ही प्रभावित था।

३.२.४ दक्षिण भारत में जैन धर्म (Jain Religion in South India)

दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रभाव भगवान पार्श्व और महावीर से पहले भी था, जिस समय द्वारिका दहन हुआ था उस समय भगवान अरिष्टनेमि पल्हव देश में थे। वह दक्षिणापथ का ही एक राज्य था। उत्तर भारत में जब बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा तब भद्रबाहु दक्षिण में गए थे।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि ईसा की पहली शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में जैन धर्म सबसे अधिक शक्तिशाली और आकर्षक धर्म था। पांड्य, गंग, राष्ट्रकूट, कलचूरी और होयसल वंश के अनेक राजा जैन थे। ये जैन धर्म को पल्लवित करने तथा उसको संरक्षण देने में अग्रणी रहे हैं। तमिल देश के चोलवंशीय शासक यद्यपि जैन नहीं थे, फिर भी उन्होंने जैन धर्म को पर्याप्त सहयोग देकर उसका संरक्षण किया। मैसूर के होयसल वंश के राजा जैन थे। विजयनगर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के राजाओं की जैन धर्म के प्रति पर्याप्त सहिष्णुता रही है। उन्होंने अनेक स्थानों पर जैन मन्दिर बनवाए, मूर्तियाँ स्थापित की और जैन-मूर्तियों को सरंक्षण दिया।

दक्षिण भारत की जन संस्कृति पर जैन धर्म का प्रभाव दूर-दूर तक अब भी दिखाई देता है। दक्षिण भारत में जैन धर्म का अतिशय उत्कर्ष कर्नाटक प्रान्त में प्राप्त हुआ। आंध्र वंश और कदम्ब वंश के अनेक राजाओं ने यहाँ धर्म को संरक्षण प्रदान किया। कदम्बवंश के शासनकाल के शिलालेखों से पता चलता है कि राजाओं ने जैनों को विविध प्रकार के दान दिये थे। दक्षिण भारतीय राजवंश 'गंग' अपनी जैन धर्मप्रियता के लिए इतिहास में विशेष रूप से प्रख्यात हैं। गंग वंश की स्थापना का श्रेय ही एक जैनाचार्य सिंहनन्दि को है। इस तरह दक्षिण भारत के अनेक अंचलों में जैन धर्म के शासक, जैन धर्म के संरक्षक या जैन धर्म के पोषक राजा राज्य करते रहे और यह धर्म जनमानस को अहिंसा, सत्य आदि शाश्वत तत्त्वों की ओर आकृष्ट करता रहा।

३.२.५ सौराष्ट्र गुजरात में जैन धर्म (Jain Religion in Gujarat)

गुजरात जैनधर्म के इतिहास में एक विख्यात प्रदेश रहा है। गुजरात में भी जैन धर्म का अति प्राचीन अस्तित्व इतिहास से प्रमाणित है। भगवान अरिष्टनेमि ने गुजरात में ही गिरनार पर दीक्षा ग्रहण की थी एवं मुक्ति लाभ किया था।

सौराष्ट्र जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। भगवान अरिष्टनेमि से वहां जैन परम्परा चल रही थी। सम्राट सम्प्रति के राज्यकाल में वहां जैन धर्म को अधिक बल मिला था। सूत्रकृतांग चूर्णि में सौराष्ट्रवासी श्रावक का उल्लेख मगधवासी श्रावक की तुलना में किया गया है। जैन-साहित्य में 'सौराष्ट्र' का प्राचीन नाम 'सुराष्ट्र' मिलता है।

वल्लभी में श्वेताम्बर-जैनों की दो आगम-वाचनाएँ हुई थीं। ईसा की चौथी शताब्दी में जब आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में आगम-वाचना हो रही थी, उसी समय आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में वह वल्लभी में हो रही थी।

ईसा की पांचवीं शताब्दी (४५४) में फिर वहीं आगम-वाचना के लिए एक परिषद आयोजित हुई। उसका नेतृत्व देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने किया। उन्होंने आचार्य स्कन्दिल की 'माथुरी-वाचना' को मुख्यता दी और नागार्जुन की 'वल्लभी-वाचना' को वाचनान्तर के रूप में स्वीकृत किया।

गुजरात के चालुक्य, राष्ट्रकूट, चावड, सोलंकी आदि राजवंशी भी जैन धर्म के अनुयायी या समर्थक थे। गुजरात में जैन धर्म के प्रसार में नरेश कुमारपाल का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उसने स्वयं तो मांसाहार, मदिरापान आदि का त्याग कर ही दिया था, परन्तु राज्य में भी उसने पशु-हिंसा, मांसाहार, मदिरापान पर प्रतिबंध लगा दिया था। ब्राह्मणों के लिए भी यह व्यवस्था की गई कि यज्ञ में पशुबलि के स्थान पर अन्न का हवन किया जाये। इस प्रकार राजा कुमारपाल तथा मंत्री तेजपाल, वस्तुपाल आदि ने जैन धर्म के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

३.२.६ बम्बई महाराष्ट्र में जैन धर्म (Jain Religion in Maharastra)

सम्राट सम्प्रति से पूर्व महाराष्ट्र जैनों की दृष्टि में अनार्य देश की गणना में आता था। उसके राज्यकाल में जैन साधु वहां विहार करने लगे थे। उत्तरवर्ती काल में वह जैनों का प्रमुख विहार-क्षेत्र बन गया था। जैन आगमों की भाषा महाराष्ट्री-प्राकृत से बहुत प्रभावित है। कुछ विद्वानों ने प्राकृत भाषा के रूप का 'जैन महाराष्ट्री प्राकृत' ऐसा नाम रखा है। यहाँ अजन्ता, ऐलोरो की प्रसिद्ध कलापूर्ण गुफाएँ हैं।

ईसा की आठवीं-नवीं शताब्दी में विदर्भ पर चालुक्य राजाओं का शासन था। दसवीं शताब्दी में वहां राष्ट्रकूट राजाओं का शासन था। ये दोनों राजवंश जैन धर्म के पोषक थे। उनके शासन काल में वहाँ जैन धर्म खूब फला-फूला।

३.२.७ उत्तरप्रदेश में जैन धर्म (Jain Religion in Uttarpradesh)

उत्तरप्रदेश के साथ जैन धर्म और संस्कृति का अटूट संबंध है। २४ तीर्थंकरों में से १८ तीर्थंकरों को जन्म देने का सौभाग्य उत्तरप्रदेश को ही है। उत्तरप्रदेश में अयोध्या, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी, रत्नपुरी, हस्तिनापुर आदि तीर्थंकरों की जन्मभूमियाँ रही हैं। भगवान पार्श्वनाथ वाराणसी के थे। काशी और कौशल – ये दोनों राज्य उनके धर्मोपदेश से बहुत प्रभावित थे। वाराणसी का अलक्ष्य राजा भी भगवान महावीर के पास प्रव्रजित हुआ था। उत्तराध्ययन में प्रवर्जित होने वाले राजाओं की सूची में काशीराज के प्रवर्जित होने का उल्लेख है।

उत्तरप्रदेश में मथुरा जैन धर्म की दृष्टि से कभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्र रहा था। यहाँ अत्यन्त प्राचीन शिलालेख (जो ईसा पूर्व दूसरी सदी के हैं) उपलब्ध हुए हैं। उत्तर-प्रदेश के अनेक राजा-महाराजाओं का प्रश्रय भी इस धर्म को प्राप्त होता रहा है। इतिहास विश्रुत सम्राट हर्षवर्धन ने पांच वर्षों तक प्रयाग में धार्मिक महोत्सव करवाये, जिनमें जैनाचार्यों और मुनियों का भी सम्मान किया गया। यद्यपि इस क्षेत्र में जैन राजाओं का अभाव रहा, किन्तु अभाव में भी जैन धर्म का उल्लेखनीय उत्कर्ष रहा।

३.२.८ राजस्थान में जैन धर्म (Jain Religion in Rajasthan)

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् मरुस्थल (वर्तमान राजस्थान) में जैन धर्म का प्रभाव बढ़ गया। आचार्य रत्नप्रभसूरि वीर निर्वाण की पहली शताब्दी में उपकेश या ओसिया में आए थे। उन्होंने वहाँ ओसिया के सवा लाख नागरिकों को जैन धर्म में दीक्षित किया और उन्हें एक जैन जाति (ओसवाल) के रूप में परिवर्तित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कर दिया। यह घटना वीर-निर्वाण के ७० वर्ष बाद के आस-पास की है। राजस्थान में अनेक जैन मंदिर हैं, जो कला और स्थापत्य के सुन्दर नमूने हैं। चित्रकला के क्षेत्र में राजस्थान के जैन अनुयायियों का उल्लेखनीय योगदान रहा है।

३.२.९ पंजाब और सिन्धु सौवीर में जैन धर्म (Jain Religion in Panjab)

भगवान महावीर ने साधुओं के विहार के लिए चारों दिशाओं की सीमा निर्धारित की। उसमें पश्चिमी सीमा 'स्थूणा' (कुरुक्षेत्र) है। इससे ज्ञात होता है कि पंजाब का स्थूणा तक का भाग जैन धर्म से प्रभावित था। साढ़े पचीस आर्य-देशों की सूची में भी कुरु का नाम है।

सिंधु-सौवीर दीर्घकाल से श्रमण-संस्कृति से प्रभावित था। भगवान महावीर, महाराजा उद्रायण को दीक्षित करने वहां पधारे ही थे।

३.२.१० मध्यप्रदेश में जैन धर्म (Jain Religion in Madhya-Pradesh)

मध्यप्रदेश में जैन संस्कृति लगभग कोने-कोने में अपनी ऐतिहासिकता पर आधारित है। यहाँ पुरातत्त्व की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। यहाँ जैन कला को अपनी अभिवृद्धि के अनेक अवसर प्राप्त हुए। बुन्देलखण्ड में ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के लगभग जैन धर्म बहुत प्रभावशाली था। आज भी वहां उसके अनेक चिह्न मिलते हैं। राष्ट्रकूट-नरेश जैन धर्म के अनुयायी थे। उसका कलचूरि-नरेशों से गहरा सम्बन्ध था। कलचूरि की राजधानी त्रिपुरा और रत्नपुर में आज भी अनेक प्राचीन जैन-मूर्तियां और खण्डहर प्राप्त हैं।

चन्देल राज्य के प्रधान खुजराहो नगर में लेख तथा प्रतिमाओं के अध्ययन से जैन मत के प्रचार का ज्ञान होता है। प्रतिमाओं की आधार-शिला पर खुदा लेख यह प्रमाणित करता है कि राजाओं के अतिरिक्त साधारण जनता भी जैन मत में विश्वास रखती थी। मालवा अनेक शताब्दियों तक जैन धर्म का प्रमुख प्रचार-क्षेत्र था। व्यवहार भाष्य में बताया है कि अन्यतीर्थिकों के साथ वाद-विवाद मालव आदि क्षेत्रों में करना चाहिए। इससे जाना जाता है कि अवन्तीपति चण्डप्रद्योत तथा विशेषत: सम्राट सम्प्रति से लेकर भाष्य रचनाकाल तक वहां जैन धर्म प्रभावशाली था।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारत में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार विभिन्न अंचलों में था। उसे राज्याश्रय भी प्राप्त था और लोकप्रियता भी प्राप्त थी।

३.३ विदेशों में जैन धर्म (Jain Religion in Foreign Countries)

जैन साहित्य के अनुसार भगवान ऋषभ, पार्श्व और महावीर ने अनार्य देशों में विहार किया था। सूत्रकृतांग के एक श्लोक से अनार्य का अर्थ 'भाषा-भेद' भी फलित होता है। इस अर्थ की छाया में हम कह सकते हैं कि चार तीर्थंकरों ने उन देशों में भी विहार किया, जिनकी भाषा उनके मुख्य विहार-क्षेत्र की भाषा से भिन्न थी।

भगवान ऋषभ ने बहली (बैक्ट्रिइया, बलख), अण्डबइल्ला (अटक प्रदेश), यवन (यूनान), सुवर्णभूमि (सुमात्रा), पण्हव आदि देशों में विहार किया। पण्हव का सम्बन्ध प्राचीन पार्थिया (वर्तमान ईरान का एक भाग) से है या पल्हव से, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। भगवान अरिष्टनेमि दक्षिणापथ के मलय देश में गए थे। जब द्वारिका-दहन हुआ था तब अरिष्टनेमि पल्हव नामक अनार्य देश में थे।

भगवान पार्श्वनाथ ने कुरु, कौशल, काशी, सुम्ह, अवन्ती, पुण्ड्र, मालव, अंग, बंग, कलिंग, पांचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्णाटक, कोंकण, मेवाड़, लाट, द्राविड़, काश्मीर, कच्छ, शाक, पल्लव, वत्स, आभीर आदि देशों में विहार किया था। दक्षिण में कर्णाटक, कोंकण, पल्लव, द्राविड़ आदि उस समय अनार्य प्रदेश माने जाते थे। शाक भी अनार्य प्रदेश था। इसकी पहचान शाक्यदेश या शाक्य-द्वीप से हो सकती है। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका में है। वहाँ भगवान पार्श्व के अनुयायी थे। भगवान बुद्ध का चाचा स्वयं भगवान पार्श्व का श्रावक था। शाक्य-प्रदेश में भगवान का विहार हुआ हो, यह बहुत सम्भव है। भारत और शाक्य-प्रदेश का बहुत प्राचीन-काल से सम्बन्ध रहा है।

भगवान महावीर वज्रभूमि, सुम्हभूमि, दृढ़भूमि आदि अनेक अनार्य-प्रदेशों में गए थे। वे बंगाल की पूर्वीय सीमा तक भी गए थे।

उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत एवं अफगानिस्तान में विपुल संख्या में जैन श्रमण विहार करते थे।

जैन श्रावक समुद्र पार जाते थे। उनकी समुद्र-यात्रा और विदेश-व्यापार के अनेक प्रमाण मिलते हैं। लंका में जैन श्रावक थे, इसका उल्लेख बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। महावंश के अनुसार ई.पू. ४३० में जब अनुराधापुर बसा, तब जैन श्रावक वहां विद्यमान थे। वहां अनुराधापुर के राजा पाण्डुकाभय ने ज्योतिय निग्गंठ के लिए घर बनवाया। उसी स्थान पर गिरि नामक निग्गंठ रहते थे। राजा पाण्डुकाभय ने कुम्भण्ड निग्गंठ के लिए एक देवालय बनवाया था।

जैन श्रमण भी सुदूर देशों तक विहार करते थे। ई.पू. २५ में पाण्ड्या राजा ने अगस्टस् सीजर के दरबार में दूत भेजे थे। उनके साथ श्रमण भी यूनान गए थे।

ईसा पूर्व से ईराक, शाम और फिलिस्तीन में जैन-मुनि और बौद्ध-भिक्षु सैकड़ों की संख्या में चारों ओर फैले हुए थे। पश्चिमी एशिया, मिस्र, यूनान और इथोपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों अगणित भारतीय-साधु रहते थे, जो अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। ये साधु वस्त्रों तक का परित्याग किए हुए थे।

यूनानी लेखक मिस्र, एबीसीनिया, इथोपिया में दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व बताते हैं।

आर्द्र देश का राजकुमार आर्द्र भगवान महावीर के संघ में प्रव्रजित हुआ था। अरबिस्तान के दक्षिण में 'एडन' बंदर वाले प्रदेश को 'आर्द्र-देश' कहा जाता था। कुछ विद्वान् इटली के एड्रियाटिक समुद्र के किनारे वाले प्रदेश को 'आर्द्र-देश' मानते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बेबीलोनिया में जैन धर्म का प्रचार बौद्ध धर्म का प्रसार होने से पहले ही हो चुका था। इसकी सूचना बावेरु-जातक से मिलती है।

इब्न-अन नजीम के अनुसार अरबों के शासन-काल में यहिया इब्न खालिद बरमकी ने खलीफा के दरबार और भारत के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध स्थापित किया। उसने बड़े अध्यवसाय और आदर के साथ भारत के हिन्दू, बौद्ध और जैन-विद्वानों को निमन्त्रित किया।

इस प्रकार मध्य एशिया में जैन धर्म या श्रमण-संस्कृति का काफी प्रभाव रहा था। उससे वहां के धर्म प्रभावित हुए थे। वानक्रेमर के अनुसार मध्य-पूर्व में प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश है।

श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डे ने लिखा है – ''इन साधुओं के त्याग का प्रभाव यहूदी धर्मावलम्बियों पर विशेष रूप से पड़ा। इन आदर्शों का पालन करने वालों की, यहूदियों में एक खास जमात बन गई, जो 'ऐस्मिनी' कहलाती थी। इन लोगों ने यहूदी-धर्म के कर्मकाण्डों का पालन त्याग दिया। ये बस्ती से दूर जंगलों में या पहाड़ों पर कुटी बनाकर रहते थे। जैन-मुनियों की तरह अहिंसा को अपना खास धर्म मानते थे। मांस खाने से उन्हें बेहद परहेज था। वे कठोर और संयमी जीवन व्यतीत करते थे। पैसा या धन को छूने तक से इन्कार करते थे। रोगियों और दुर्बलों की सहायता को दिनचर्या का आवश्यक अंग मानते थे। प्रेम और सेवा को पूजा-पाठ से बढ़कर मानते थे। पशु-बलि का तीव्र विरोध करते थे। शारीरिक परिश्रम से ही जीवन-यापन करते थे। अपरिग्रह के सिद्धांत पर विश्वास करते थे। समस्त संपत्ति को समाज की संपत्ति समझते थे। मिस्र में इन्हीं तपस्वियों को 'थेरापूते' कहा जाता था। 'थेरापूते' का अर्थ 'मौनी-अपरिग्रही' है।

कालकाचार्य सुवर्णभूमि (सुमात्रा) में गए थे। उनके प्रशिष्य श्रमण सागर अपने गण सहित वहां पहले ही विद्यमान थे।

कौंचद्वीप, सिंहलद्वीप (लंका) और हंसद्वीप में भगवान सुमतिनाथ की पादुकाएँ थीं। पारकर देश और कासहृद में भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा थी।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि जैन धर्म का प्रचार हिन्दुस्तान से बाहर देशों में भी हुआ था। उत्तरवर्ती श्रमणों की उपेक्षा व अन्यान्य परिस्थितियों के कारण वह वहां स्थायी नहीं रह सका।

३.४ जैन-धर्म : विकास और ह्रास (Jain Religion : Rise and Fall)

विश्व की प्रत्येक प्रवृत्ति को उतार-चढ़ाव का सामना करना पड़ा है। कोई भी प्रवृत्ति केवल उन्नति और अवनति के बिन्दु पर अवस्थित नहीं रहती।

जैन धर्म के विकास के मुख्य हेतु ये हैं –

१. मध्यम वर्ग – जैन आचार्यों ने गृहस्थ के लिए अणुव्रतों का विधान कर उसकी सामाजिक अपेक्षाओं का द्वार बन्द नहीं किया।

२. समन्वय – जैन धर्म में भिन्न-भिन्न विचारों का सापेक्षदृष्टि से समन्वय होने के कारण वह विभिन्न विचारधारा के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर सका।

३. रागाहार – जैन धर्म में जातिवाद की तात्त्विकता मान्य नहीं थी, इसलिए राणी जाति के लोग उसे अपनाते रहे।

४. परिवर्तन की क्षमता – जैन आचार्यों ने सामाजिक परम्परा को शाश्वत का रूप नहीं दिया। इसलिए जैन समाज में देश और काल के अनुसार परिवर्तन का अवकाश रहा। यह जनता के आकर्षण का सबल हेतु रहा।

५. सैद्धांतिक सहिष्णुता – दूसरे धर्मों में सिद्धांतों को सहने की क्षमता के कारण जैन धर्म दूसरों की सहानुभूति अर्जित करता रहा।

६. जन-भाषा का प्रयोग।

७. अहिंसा का व्यवहार में प्रयोग।

८. प्रामाणिकता – जैन गृहस्थ अहिंसा-पालन के साथ-साथ कर्तव्य के प्रति बहुत जागरूक थे। वे देश के विकास और रक्षा के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर देते थे।

दक्षिण के जैन समाज ने जीविका (अन्नदान), शिक्षा (ज्ञानदान), चिकित्सा (औषधदान) और अहिंसा (अभयदान) के माध्यम से जैन धर्म को जन धर्म का रूप दे दिया था।

९. सशक्त और कुशल आचार्यों का नेतृत्व।

विक्रम की नवीं-दसवीं शताब्दी में इन स्थितियों में परिवर्तन आने लगा, फलतः जैन धर्म का विकास अवरुद्ध हो गया।

ह्रास के मुख्य हेतु (Main Causes for the Decline of Jain Religion)

१. आंतरिक पवित्रता और शक्ति की कमी, बाह्य कर्मकाण्डों की प्रचुरता।

२. व्यक्तिवादी मनोवृत्ति – दूसरों की हानि से मुझे क्या ? मैं दूसरों के लिए क्यों कर्म बांधूं ? इस प्रकार के ऐकांतिक निवृत्तिवादी चिंतन ने परस्परता के बंधन में शिथिलता ला दी।

दक्षिण भारत में जैन-धर्म के ह्रास के कारण

१. जैन जागृति करने वाले प्रभावशाली आचार्यों के कार्यकाल में बहुत बड़ा व्यवधान।

२. ऐसे नेतृत्व का अभाव जो राजनीति और धर्मनीति को साथ-साथ लेकर चल सके।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

३. अन्य धर्मों के बढ़ते हुए प्रभाव की उपेक्षा और अपने आपको एकांतत: आध्यात्मिक बनाए रखने की प्रवृत्ति।

दक्षिण के प्रमुख दो प्रांतों में ह्रास के अन्यान्य कारण भी हैं –

तमिलनाडु में ह्रास के कारण

१. शैव नायनार और वैष्णव अल्वारों का उदय।

२. उनके द्वारा जातिवाद का बहिष्कार कर अपने धर्म-संघ में नीची जाति वालों का प्रवेश।

३. राजधर्म को प्रभावित कर राजाओं को अपने मत के प्रति आकृष्ट करना।

४. जैन स्तुतियों का अनुकरण कर शैव स्तुतियों का निर्माण करना।

कर्नाटक में ह्रास के कारण

१. राष्ट्रकूट और गंगवंशीय राजाओं का अंत।

२. वीर शैवमत के उदयकाल में जैन आचार्यों की उपेक्षा और उनके प्रभाव को रोक पाने की अक्षमता।

३. बसवेश्वर द्वारा प्ररूपित 'लिंगायत' धर्म के बढ़ते चरण को रोक न पाना।

४. अनेक राजाओं का शैव-मत में दीक्षित हो जाना।

विकास और ह्रास कालचक्र के अनिवार्य नियम हैं। इस विषय में कोई भी वस्तु केवल विकास या ह्रास की रेखा पर अवस्थित नहीं रहती। आरोह के बाद अवरोह और अवरोह के बाद आरोह चलता रहता है। जैन धर्म के अनुयायी-समाज की संख्या में ह्रास हुआ है, किन्तु भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित शाश्वत सत्यों का ह्रास नहीं हुआ है। उनके सापेक्षता, सह-अस्तित्व, अहिंसा, मानवीय एकता, नि:शस्त्रीकरण, स्वतंत्रता और अपरिग्रह के सिद्धांत विश्वमानस में निरंतर विकसित होते जा रहे हैं।

३.५ बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. हाथीगुंफा शिलालेख कहाँ है?

२. सौराष्ट्र का प्राचीन नाम क्या है?

३. सुवर्णभूमि (सुमात्रा) में कौन-से आचार्य गए थे?

४. जैन दर्शन में प्रसिद्ध चार दान कौन-से हैं?

५. जैन धर्म के विकास के मुख्य कारण क्या थे?

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. भारत के किन-किन अंचलों में जैन धर्म का प्रभाव था?

२. जैन धर्म के विकास और ह्रास के कारणों पर प्रकाश डालें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग-५

चिन्तन के विकास में जैन दर्शन का योगदान
(Contribution of Jain Philosophy to the Development of Thinking)

संवर्ग प्रस्तावना

जैन विचार धारा का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उठती रहती हैं उसी प्रकार व्यक्ति के मन में प्रतिक्षण विचारों की तरंगें उठती रहती हैं। वे विचार ही चिन्तन के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। चिंतन की तुलना सरिता के उस प्रवाह से की जा सकती है, जिसका उद्‌गम छोटा है पर गतिशील होने के साथ-साथ वह विशालकाय होता चला जाता है। चिन्तन के विकास में जैन दर्शन का विशिष्ट योगदान रहा है, जिनका विवेचन इस इकाई में मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों के अन्तर्गत किया जा रहा है –

१. भगवान महावीर और जनतन्त्र, अनेकान्तवाद।
२. जातिवाद की अतात्विकता और साध्य-साधनवाद।
३. अनुकम्पा और नैतिकता की अवधारणा।

भगवान महावीर और जनतन्त्र, अनेकान्तवाद
(Lord Mahaveer and Democracy, Non-Absolutism)

इकाई की रूपरेखा

१.० उद्देश्य
१.१ प्रस्तावना
१.२ महावीर और जनतंत्र के सिद्धान्त
- **१.२.१ समानता**
- **१.२.२ स्वतन्त्रता**
- **१.२.३ सह-अस्तित्व**
- **१.२.४ सापेक्षता**

१.३ अनेकान्तवाद
- **१.३.१ स्याद्वाद**
- **१.३.२ सप्तभंगी**
- **१.३.३ सापेक्षता**
- **१.३.४ सह-अस्तितव**
- **१.३.५ समन्वय**

१.४ बोध प्रश्न

१.० उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

- भगवान महावीर के सिद्धान्त और जनतन्त्र के सिद्धान्तों की समानता को समझ सकेंगे।
- जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त अनेकान्तवाद को जान सकेंगे।
- सम्यक् दृष्टिकोण का विकास कर सकेंगे।

१.१ प्रस्तावना

इस इकाई में यह बताने का प्रयास किया जा रहा है कि भगवान महावीर ने २६०० वर्ष पूर्व अनेकान्तवाद का जो चिन्तन दिया था, वह आज के जनतन्त्र का आधारभूत सिद्धान्त है। अनेकान्त को समझने वाला ही जनतन्त्र-लोकतन्त्र को अच्छी तरह से समझ सकता है। अनेकान्त का सिद्धान्त केवल दर्शन का विषय नहीं है। यह हमारे जीवन के हर पक्ष से जुड़ा हुआ है। इसे अपने जीवन व्यवहार में अपनाकर व्यक्ति दुराग्रह से मुक्त हो सकता है, सोच को सकारात्मक रख सकता है तथा विरोधी विचारों में भी सामंजस्य स्थापित कर सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

१.२ महावीर और जनतन्त्र के सिद्धान्त (Lord Mahaveera and Democracy)

भगवान महावीर राजतन्त्र की परम्परा में नहीं जन्मे। वे गणतन्त्र की परम्परा में जन्मे और गणतन्त्र के वातावरण में पले-पुसे थे। वैशाली गणराज्य के प्रमुख महाराज चेटक भगवान के मामा थे। भगवान के पिता सिद्धार्थ उस गणराज्य के एक सदस्य थे। भगवान महावीर के प्रारम्भिक संस्कार अहिंसा की व्याख्या के प्रतिफलित हैं। उन्होंने जो अनेकान्त का दर्शन दिया था, वह आज लोकतन्त्र में सामाजिक रूप में फलित हो रहा है। वह एक तत्त्वज्ञान का दर्शन है और उसका व्यावहारिक रूप है – सामाजिक प्राणी। आज का लोकतन्त्र भगवान महावीर के अनेकान्त सिद्धान्त पर आधारित है। अनेकान्त सिद्धान्त के मुख्य फलित चार हैं – १. समानता, २. स्वतन्त्रता, ३. सह-अस्तित्व, ४. सापेक्षता।

१.२.१ समानता (Equality)

महावीर का पहला सिद्धान्त था – समानता। प्रत्येक प्राणी समान है। जब तक सब जीवों के प्रति समानता की अनुभूति नहीं होती तब तक अहिंसा पूर्णत: सफल नहीं हो पाती। गणराज्य की विफलता का भी मूल हेतु है – विषमता। जिस राज्य में सब नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त नहीं होते वह राज्य सफल राज्य नहीं बन पाता। इसलिए लोकतन्त्र का आधारभूत सिद्धान्त है – प्रत्येक नागरिक समान है। जाति, रंग और सम्प्रदाय कोई बाधा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा, चिकित्सा एवं रोजगार का समान अधिकार है, यही लोकतन्त्र का प्राण तत्त्व है।

१.२.२ स्वतन्त्रता (Right to Self-decision)

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व स्वतन्त्र है। कोई किसी के अस्तित्व में बाधक नहीं बनता। जिस प्रकार हर पदार्थ अपने-अपने मौलिक गुणों के कारण अपनी विशिष्टता बनाए हुए है, उसी प्रकार हर व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व को बनाने की भी स्वतन्त्रता है। वह अपने पुरुषार्थ के द्वारा विकास करने में स्वतन्त्र है। व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। कोई ईश्वर या ब्रह्मा उसका भाग्य नहीं लिखता। व्यक्ति के आज का पुरुषार्थ ही कल उसका भाग्य बन जाता है। दु:ख और सुख दोनों ही आत्मकृत है। किसी ईश्वर या अन्य शक्ति के द्वारा कृत नहीं है। महावीर ने कहा –

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिय॥

अर्थात्-आत्मा ही सुख और दु:ख की कर्त्ता है और आत्मा ही मित्र और शत्रु है। हर व्यक्ति को स्वयं यह निर्णय करने का अधिकार है कि वह क्या बनना चाहता है। मित्र बनना चाहता है या शत्रु बनना चाहता है। कर्मों का बंधन करना चाहता है या मुक्त होना चाहता है। जनतन्त्र के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, क्योंकि जहाँ व्यक्ति को आत्म-निर्णय का अधिकार नहीं होता, वहां उसका कर्तृत्व कुंठित हो जाता है। नव-निर्माण के लिए, पुरुषार्थ के लिए स्वतन्त्रता का अधिकार आवश्यक है। सबके लिए समान अवसर और सबको मत देने का अधिकार – ये लोकतन्त्र के अपने विशिष्ट मूल्य हैं। इस प्रकार लोकतन्त्र महावीर-वाणी का व्यावहारिक प्रयोग है।

१.२.३ सह-अस्तित्व (Co-existence)

अनेकान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु में अनन्त विरोधी युगल धर्म हैं और वे साथ-साथ रहते हैं। अस्तित्व और नास्तित्व, नित्यत्व और अनित्यत्व एक पदार्थ में एक ही समय में रहते हैं। जैन न्याय का यह सिद्धान्त – जिसका अस्तित्व है, उसका प्रतिपक्ष है – लोकतन्त्र का आधारभूत सूत्र है।

लोकतन्त्र वह शासनप्रणाली है, जिसमें बहुमत प्राप्त दल सत्ता के सिंहासन पर बैठता है और जिसे अल्पमत प्राप्त होता है, वह दल प्रतिपक्ष के आसन पर बैठता है। यदि प्रतिपक्ष न हो तो निरंकुश शासन की संभावना फिर बन जाती है। इसलिए जहाँ स्वस्थ पक्ष और स्वस्थ प्रतिपक्ष हो, वहीं स्वस्थ लोकतन्त्र की परिकल्पना संभव है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अनेकान्त का पक्ष-प्रतिपक्ष के सह-अस्तित्व का सिद्धान्त लोकतन्त्र का प्राणतत्त्व है।

१.२.४ सापेक्षता (Relativity)

महावीर का चौथा सिद्धान्त था – सापेक्षता। सापेक्षता अर्थात् सबको समान अवसर। कोई बड़ा और कोई छोटा नहीं। छोटा और बड़ा होना सापेक्ष है। एक ही व्यक्ति किसी अपेक्षा से छोटा हो सकता है तो किसी अपेक्षा से बड़ा भी हो सकता है। जहाँ सापेक्षता का दृष्टिकोण होता है, वहीं विकास होता है। बिलौना करते समय एक हाथ पीछे जाता है और दूसरा आगे आता है, फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे आता है। इस क्रम से बिलौना करने पर नवनीत (मक्खन) निकलता है।

चलते समय एक पैर आगे रहता है और दूसरा पैर पीछे रहता है। फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे आ जाता है। इस क्रम से ही गति होती है। दोनों साथ चलने का प्रयास करें तो गति नहीं हो सकती। यह सापेक्षता ही स्याद्वाद का रहस्य है, इसी के द्वारा सत्य का ज्ञान और उसका निरूपण होता है। यह सिद्धान्त जनतन्त्र की रीढ़ है। कुछेक व्यक्ति सत्ता, अधिकार और पद से चिपककर बैठ जाएँ, दूसरों को अवसर न दें तो असंतोष की ज्वाला भभक उठती है। यह सापेक्ष-नीति गुटबंदी को कम करने में काफी काम कर सकती है। नीतियाँ भिन्न होने पर भी यदि सापेक्षता हो तो अवांछनीय अलगाव नहीं होता।

महावीर ने जो किया, वह मुक्ति के लिए किया। उन्होंने जो कहा – वह मुक्ति के लिए कहा। जनतन्त्र भी तो व्यावहारिक मुक्ति का प्रयोग है। इसलिए महावीर के ये सिद्धान्त आज भी जनतंत्र का पथदर्शन करने की क्षमता रखते हैं और स्वस्थ समाज की संरचना में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। निरपेक्ष दृष्टिकोण वाले

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विचारक व्यक्ति और समाज को खण्ड-खण्ड कर देखते हैं। कोई व्यक्ति को सब कुछ मानता है, कोई समाज को। कोई एक राष्ट्र के हित को प्रधानता देते हैं, कोई दूसरे राष्ट्र के हित को प्रधानता देते हैं, फलत: कटुता पैदा होती है। सापेक्षता के विकास से ही आग्रह एवं संघर्ष की चेतना का परिवर्तन सम्भव है।

१.३ अनेकान्तवाद (Non-Absolutism)

चिन्तन के क्षेत्र में जैन दर्शन का महत्वपूर्ण अवदान है – अनेकान्तवाद। अनेकान्तवाद शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है – 'अनेक' और 'अन्त'। 'अनेक' का अर्थ है – एक से अधिक और 'अन्त' का अर्थ है – धर्म। वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व मानना अनेकान्तवाद है।

दर्शन जगत् में वस्तु की व्याख्या एकान्तिक दृष्टि से हो रही थी। कुछ दार्शनिक वस्तु को नित्य मान रहे थे तो कुछ दार्शनिक वस्तु को अनित्य मान रहे थे। जैन आचार्यों ने इस समस्या पर विचार किया। उन्हें लगा कि दोनों दृष्टियाँ एकान्तत: ठीक नहीं है। वस्तु न केवल नित्य है और न केवल अनित्य है अपितु नित्यानित्य है। द्रव्य की दृष्टि से वस्तु नित्य है, उसका कभी विनाश नहीं होता, किन्तु पर्याय की दृष्टि से वस्तु अनित्य है, वह हर क्षण बदलती रहती है। वस्तुत: वस्तु-स्वरूप के प्रतिपादन की यह उदार दृष्टि ही अनेकान्तवाद है।

१.३.१ स्याद्वाद (Syadvad)

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद दोनों एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। अनेकान्त एक दार्शनिक सिद्धान्त है और उस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाली पद्धति का नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद स्यात्+वाद – इन दो पदों से बना है। 'स्यात्' का अर्थ है – कथंचित, किसी अपेक्षा से और 'वाद' का अर्थ है – कथन करना। स्याद्वाद के अनुसार वस्तु के किसी एक पक्ष को देखकर उसके स्वरूप का निर्णय करना एकान्त निर्णय है। जब पदार्थ अनन्त धर्मों वाला है तो एक धर्म के आधार पर उस पदार्थ को पूर्णता से नहीं समझा जा सकता। स्याद्वाद की शैली से ही उसको समझा जा सकता है।

१.३.२ सप्तभंगी (Seven-fold Predication)

अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद का विस्तृत रूप सप्तभंगी में दृष्टिगोचर होता है। अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पदार्थ अनेक विरोधी धर्म युगलों का समवाय है। वे अनेक विरोधी धर्म वस्तु में एक साथ रह तो सकते हैं परन्तु उन्हें एक साथ शब्दों से व्यक्त नहीं किया जा सकता। उन्हें व्यक्त करने के सात तरीके हैं, जिन्हें सप्तभंगी के नाम से जाना जाता है। सात भंग इस प्रकार हैं –

१. स्यात् अस्ति
२. स्यात् नास्ति
३. स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति
४. स्यात् अवक्तव्य
५. स्यात् अस्ति, स्यात् अवक्तव्य
६. स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य
७. स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य

१. स्यात् अस्ति (In some respects, It is)

स्यात् अस्ति अर्थात् कथंचित् है। स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से हर वस्तु का अस्तित्व होता है। संसार का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो अस्तित्ववान् नहीं है। किन्तु अस्तित्व के साथ-साथ स्यात् शब्द इस बात का द्योतक है कि उसमें अस्तित्व धर्म तो है ही, नास्तित्व धर्म भी है। उसे नहीं समझा जायेगा तो वस्तु का पूर्ण बोध नहीं होगा।

२. स्यात् नास्ति (In some respects, It is not)

स्यात् नास्ति अर्थात् कथंचित नहीं है। जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अस्तित्ववान है, वैसे ही वह दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नहीं भी है। अस्तित्व और नास्तित्व की एक ही वस्तु में अपेक्षा भेद से सह-अवस्थिति है, जैसे –

दृष्टियाँ	स्वदृष्टि से अस्तित्व	परदृष्टि से नास्तित्व
१. द्रव्य दृष्टि	घड़ा मिट्टी द्रव्य का है	घड़ा सोने का नहीं है।
२. क्षेत्र दृष्टि	घड़ा दिल्ली क्षेत्र का है	घड़ा अहमदाबाद का नहीं है।
३. काल दृष्टि	घड़ा शीतकाल का बना हुआ है	घड़ा ग्रीष्मकाल का नहीं है।
४. भाव दृष्टि	घड़ा पानी रखने का है	घड़ा घी रखने का नहीं है।

३. स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति (In some respects, It is and it is not)

इसका तात्पर्य है कि वस्तु में कथंचित् अस्तित्व धर्म भी है और कथंचित् नास्तित्व धर्म भी है। स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्तित्व धर्म है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नास्तित्व धर्म है।

४. स्यात् अवक्तव्य (In some respects, It is indescribable)

वस्तु में अस्तित्व-नास्तित्व दोनों धर्म एक साथ रहते हैं, किन्तु शब्द के द्वारा उन दोनों धर्मों का एक साथ कथन नहीं किया जा सकता। ऐसा कोई शब्द

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नहीं है कि दोनों विरोधी धर्मों को एक साथ व्यक्त किया जा सके। एक साथ दोनों धर्मों का कथन न कर पाने की दृष्टि से वस्तु स्यात् अवक्तव्य है। 'अवक्तव्य' के द्वारा एक साथ दोनों अर्थों का बोध हो जाता है।

५. स्यात् अस्ति, स्यात् अवक्तव्य (In some respects, It is and is indescribable)

यह पहले और चौथे भंग के संयोग से बना है। वस्तु कथंचित् है, फिर भी वह पूर्णरूप में अवक्तव्य है।

६. स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य (In some respects, It is not and is indescribable)

यह दूसरे और चौथे भंग के संयोग से बना है। वस्तु कथंचित् नहीं है, फिर भी वह पूर्णरूप में अवक्तव्य है।

७. स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य (In some respects, It is, is not, is indescribable)

यह तीन भंगों के संयोग से बना है। वस्तु कथंचित है भी, नहीं भी है, फिर भी पूर्ण रूप में अवक्तव्य है। इस प्रकार सात भंगों में मूल भंग तीन ही हैं। शेष चार भंग उन तीनों के संयोग से बने हुए हैं। दार्शनिक जगत् में यह सिद्धान्त सप्तभंगी के नाम से प्रसिद्ध है।

यद्यपि स्याद्वाद शब्द जैनों का है। किन्तु तत्त्व की व्याख्या के सन्दर्भ में यह सबको मान्य हो सकता है। स्याद्वाद का मूल उत्स तीर्थंकरों की वाणी है। इसको दार्शनिक रूप उत्तरवर्ती आचार्यों ने दिया है। स्याद्वाद जितना दार्शनिक है, उतना ही व्यावहारिक भी है। इसलिए किसी भी क्षेत्र में इसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की मुख्य तीन निष्पत्तियाँ हैं, जिसके माध्यम से इन्हें और अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है, वे हैं – १. सापेक्षता, २. सह-अस्तित्व, ३. समन्वय।

१.३.३ सापेक्षता (Relativity)

अनेकान्तवाद एक वैज्ञानिक एवं सार्वभौम सिद्धान्त है। यह दर्शन-युग से वैज्ञानिक युग में भी प्रवेश पा चुका है। विश्व-विख्यात वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन द्वारा आविष्कृत 'सापेक्षवाद' (Theory of Relativity) विज्ञान का एक प्रमुख सिद्धान्त बन चुका है।

स्याद्वाद में प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द सापेक्षता का सूचक है। जैन दर्शन के अनुसार वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं। अनन्त धर्मों का एक साथ प्रतिपादन कर पाना किसी के वश की बात नहीं, क्योंकि भाषा की अपनी सीमा है। शब्द के द्वारा एक समय में एक धर्म का ही प्रतिपादन किया जा सकता है। उसके शेष धर्म प्रतिपादित नहीं किये जा सकते। किसी एक अपेक्षा से हम वस्तु के एक धर्म का कथन कर रहे हैं, पर किसी अन्य अपेक्षा से दूसरे धर्मों का भी अस्तित्व है, उसे नकारा नहीं जा सकता। इस अपेक्षाभेद को समझना ही सापेक्षता है।

हमारा अस्तित्व स्वतन्त्र और निरपेक्ष है। किन्तु हमारा व्यक्तित्व सापेक्ष है। व्यक्तित्व की सीमा में स्वतन्त्रता भी सापेक्ष है अत: कोई भी व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र नहीं। अनेकान्त एक सर्वांगीण दृष्टिकोण है।

इसका यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है – एक मुख्य होगा, शेष सारे गौण हो जाएँगे। इसी आधार पर सापेक्षता का विकास हुआ। जो मुख्य होगा, वह दूसरों की अपेक्षा कर चलेगा। वह कभी निरपेक्ष होकर नहीं चलेगा। यदि सापेक्षता का आधार न लिया जाये तो व्यावहारिक और दार्शनिक – दोनों दृष्टियों से काफी उलझनें खड़ी हो सकती हैं।

एक व्यक्ति कवि है, लेखक है, वक्ता है, कलाकार है, चित्रकार है, संगीतकार है और भी न जाने क्या-क्या है। कविता-गोष्ठी में उसका कवि रूप सामने आता है पर उस समय उसकी दूसरी-दूसरी विशेषताएँ समाप्त नहीं हो जाती। उसके लिए कोई यह कहे कि वह कवि ही है, अन्य कुछ नहीं तो इस कथन में सत्यता नहीं रहती। इसलिए स्याद्वाद को समझने वाला व्यक्ति कहेगा कि वह 'स्याद् कवि है'। एक अपेक्षा से वह कवि है किन्तु अन्य अपेक्षाओं से वह वक्ता, लेखक आदि भी है, जिनकी चर्चा का यहाँ प्रसंग नहीं है। वर्तमान में जो विशेषता चर्चा का विषय होती है, वह प्रधान बन जाती है और अन्य विशेषताएँ गौण हो जाती हैं।

इस प्रकार वस्तु में जो नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष आदि विरोधी धर्म प्रतीत होते हैं, उन्हें यदि अपेक्षा भेद से देखें तो वे विरोधी नहीं प्रतीत होते। एक ही वस्तु अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी हो सकती है। पर उसका अच्छापन और बुरापन हम अपेक्षा भेद से ही समझ सकते हैं।

इस सापेक्ष दृष्टि को हम एक उदाहरण से समझें। मान लें दो व्यक्तियों ने एक ही समय में एक ही घड़े का पानी पिया। एक को वह पानी बहुत ठण्डा लगा और दूसरे को वह पानी गर्म लगा। ऐसा क्यों? पानी समान होते हुए भी दो व्यक्तियों की अनुभूति में इतना अन्तर क्यों? इसका कारण यही हो सकता है कि पहला व्यक्ति नल का गर्म पानी पीकर आया है, नल के गर्म पानी की अपेक्षा उसे घड़े का पानी ठंडा लग रहा है, दूसरा व्यक्ति फ्रीज का पानी पीकर आया है, फ्रीज के पानी की अपेक्षा उसे घड़े का पानी गर्म लग रहा है। इस अपेक्षाभेद को जहाँ समझ लिया जाता है, वहाँ दो विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों में भी कोई संशय नहीं होता, कोई आग्रह नहीं होता।

स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूछा गया – 'आप विद्वान हैं या अविद्वान?' स्वामीजी ने कहा – मैं दार्शनिक क्षेत्र की अपेक्षा विद्वान हूँ और व्यापारिक क्षेत्र की अपेक्षा अविद्वान, क्योंकि मुझे व्यापार का कोई अनुभव नहीं।

जैन दर्शन में छोटा-बड़ा भी सापेक्ष है। जिस प्रकार अनामिका अंगुली कनिष्ठा की अपेक्षा बड़ी है और वही अनामिका मध्यमा की अपेक्षा छोटी है। हल्का और भारी भी सापेक्ष होता है। गुरुत्वाकर्षण की सीमा में अपेक्षा भेद से वस्तु भारी भी होती है और हल्की भी होती है, किन्तु गुरुत्वाकर्षण की सीमा से ऊपर उठ जाने पर वही वस्तु न हल्की होती है और न भारी होती है। हमारी सारी बातें सापेक्ष होती हैं। जब हम 'स्यात्' शब्द को अस्वीकार कर अपेक्षा को भुला देते हैं, वहाँ समस्याएँ आती हैं। उन समस्याओं से निपटने के लिए अनेकान्त ने गौण और मुख्य –दो आधार सूत्र दिये। अनेकान्त ने कहा – मुख्य का प्रतिपादन करो, पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निरपेक्ष दृष्टि से मत करो। कथन के साथ 'स्यात्' शब्द जोड़ दो। इससे यह स्पष्ट होगा कि प्रतिपादन मुख्य का हो रहा है, शेष सारे गौण हैं। किन्तु यदि हम मुख्य धर्म को ही पूर्ण सत्य मान लें तो वह आंशिक सत्य भी असत्य बन जायेगा।

जैन चिन्तकों का यह सापेक्षता का सिद्धान्त हमारा मार्ग-प्रशस्त करता है। आग्रह दूर करता है और राग-द्वेष को कम करता है। इस प्रकार सापेक्षवाद जैन दर्शन की समूचे विश्व के लिए एक वैज्ञानिक देन है। इसके आधार पर समूचे सम्बन्ध-विज्ञान को एक नया आयाम दिया जा सकता है। संकीर्ण राष्ट्रवाद एवं युद्ध जैसी भयानक समस्याओं का स्थायी समाधान सापेक्षता से ही संभव है।

१.३.४ सह-अस्तित्व (Co-existence)

अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार वस्तु में अनन्त विरोधी धर्म होते हैं और उनका सह-अस्तित्व होता है। यदि विरोधी धर्म न हों तो वस्तु का अस्तित्व भी नहीं हो सकता। चेतन का अस्तित्व तब है जब अचेतन है। अचेतन का अस्तित्व तब है जब चेतन है। चेतन के बिना अचेतन का और अचेतन के बिना चेतन का अस्तित्व ही नहीं हो सकता।

अनेकान्त का एक सूत्र है – सह-प्रतिपक्ष। समूची प्रकृति की व्यवस्था में विरोधी युगलों का अस्तित्व है। सुख है तो दुःख भी है, ज्ञान है तो अज्ञान भी है, जीवन है तो मृत्यु भी है। इस पक्ष-प्रतिपक्ष की स्वीकृति से ही अनेकान्त का विकास होता है।

अनेकान्त ने सबसे पहले इस नियम की व्याख्या की – जिस प्रकार विरोधी युगल धर्मों का होना स्वाभाविक है, वैसे ही इन विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व भी स्वाभाविक है। भारतीय दर्शनों और विश्व के सभी दर्शनों में सह-अस्तित्व की व्याख्या का ऐतिहासिक श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वह अनेकान्तवाद को ही दिया जा सकता है। अनेकान्त का आधार भी यही बना कि जब पदार्थ की प्रकृति ही ऐसी है कि उसमें विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व होता है, तब हम एक ही दृष्टि से पदार्थ की व्याख्या कैसे कर सकते हैं ? स्वभाव में तर्क नहीं चलता, वहाँ अनुभव प्रमाण होता है। अनुभव कहता है कि जो वस्तु गर्म है, वह ठंडी भी हो सकती है। तर्क कहता है वस्तु या ठंडी है या गर्म ही है, ठंडी और गर्म दोनों एक साथ नहीं हो सकती। अनुभव यह कहता है कि अपेक्षाभेद से ठंडा और गर्म एक साथ रह सकता है। उनका सह-अस्तित्व हो सकता है।

उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य विरोधी प्रतीत होते हैं पर उनका भी सह-अस्तित्व होता है। दुनियां की कोई भी वस्तु इस मर्यादा का अतिक्रमण नहीं कर सकती। जैन चिन्तकों ने इन विरोधी धर्मों की सह-अवस्थिति को एक उदाहरण से समझाया –

घटमौली सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक प्रमोद माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्॥

अर्थात् एक स्वर्णकार स्वर्णकलश को तोड़कर स्वर्णमुकुट बना रहा था। उसके पास तीन ग्राहक आए। एक को स्वर्णकलश चाहिए था, दूसरे को स्वर्णमुकुट चाहिए था और तीसरे को केवल स्वर्ण चाहिए था। स्वर्णकार की प्रवृत्ति को देखकर पहले को दुःख हुआ, दूसरे को हर्ष हुआ और तीसरा मध्यस्थ भाव में रहा। तात्पर्य यह हुआ कि एक ही स्वर्ण में पहला व्यक्ति विनाश देख रहा है, दूसरा व्यक्ति उत्पाद देख रहा है और तीसरा व्यक्ति ध्रौव्य (स्थिरता) देख रहा है। ये उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य जो परस्पर विरोधी प्रतीत हो रहे हैं, इनका एक ही वस्तु में सह-अस्तित्व है। अपेक्षा है, इस सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मानवीय व्यवहार के साथ जोड़ा जाये ताकि आज रंग-भेद, जातिवाद आदि के नाम पर जो दूरियां बढ़ रही हैं, वे समाप्त हो सकें।

१.३.५ समन्वय (Co-ordination)

अनेकान्त की एक महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति है – समन्वय। जैन चिन्तकों ने विरोधी धर्मों का एक साथ होना असंभव नहीं माना, विरोधी विचारों को स्वीकार ही नहीं किया अपितु उन विरोधी विचारों के बीच भी समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। अनेकान्त की भाषा में कोई भी विचार समग्र सत्य नहीं होता। हर विचार एक सत्यांश है। जैसे अपने विचार को सत्य मानते हो, वैसे ही दूसरे के विचारों में भी सत्य की खोज करो। इस प्रकार समन्वयवाद का अर्थ है – विचारों की मीमांसा। एक ही वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करना ही समन्वयवाद है। मान लीजिए दो विचारधाराएँ हैं, एक आत्मा को नित्य मानती है और दूसरी अनित्य मानती है। इन दोनों के बीच समन्वय कैसे हो सकता है ? समन्वयवादी कहेगा – दोनों दृष्टियाँ ठीक हैं। द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य है और पर्याय की दृष्टि से आत्मा अनित्य है। विश्व में न कोई पदार्थ एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य, यही समन्वयवाद है। उपाध्याय यशोविजयजी ने बहुत सुन्दर लिखा –

विभिन्ना अपि पन्थानः समुद्रः सरितामिव।
मध्यस्थानां परं ब्रह्म प्राप्नुवन्त्येकमक्षयम्॥

अर्थात् धर्म एक विशाल सिन्धु है और भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय सरिताएँ हैं। वे सब एक ही महासिन्धु में समा जाएँगी। फिर परस्पर कलह और वैमनस्य क्यों ? अतः 'यह मेरा है' यह समझकर हमें मोह नहीं करना चाहिए और 'यह मेरा नहीं है' यह विचारकर उसका परित्याग नहीं करना चाहिए। हमें मध्यस्थ होकर विचार करना चाहिए कि दोनों में सत्यांश कितना है। चिन्तन की इस पद्धति का नाम ही अनेकान्त है। एक वस्तु है। उसे जानने या देखने वाले अनेक हैं। सबके पास अपनी-अपनी दृष्टियाँ हैं। अपनी-अपनी दृष्टि से समझी गई वस्तु का स्वरूप एक समान नहीं हो सकता। पर उनके बीच समन्वय को ढूंढा जा सकता है।

उदाहरण के लिए – पांच अंधों ने हाथी को जानना चाहा। पहले अंधे ने हाथी के पैरों को पकड़ा और कहा – हाथी खम्भे जैसा होता है। दूसरे अन्धे ने हाथी की पूँछ को पकड़ा और कहा – हाथी खम्भे जैसा नहीं अपितु रस्सी जैसा होता है। तीसरे ने हाथी के मध्य भाग को छूआ और कहा – हाथी तो दीवार जैसा होता है। चौथे ने उसकी सूंड को पकड़ा और कहा – हाथी तो पेड़ की शाखा जैसा होता है। पाँचवे ने हाथी के कान को पकड़ा और कहा – हाथी न खम्भे जैसा होता है, न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दीवार जैसा, अपितु वह तो छाज जैसा होता है। पाँचों अपनी-अपनी बात को सत्य साबित करने का आग्रह करने लगे। विवाद बढ़ गया। एक बुद्धिमान् व्यक्ति ने उनके बीच समन्वय स्थापित करवाकर उस विवाद को समाप्त किया। उसने कहा – आप सभी हाथी के एक अंश को जानकर उसे पूर्ण हाथी समझ रहे हैं, जो कि ठीक नहीं। पांचों ने जो जाना है, उसका समन्वय करके ही आप हाथी के सही रूप को समझ सकते हैं।

समन्वयवाद असाम्प्रदायिकता और उदारता का प्रतीक है। एक युग था, जिसमें धर्म का नहीं, सम्प्रदाय का बोलबाला था। एक मिथ्या अवधारणा थी कि सामने पागल हाथी आ रहा हो, बच सकने का कोई दूसरा उपाय भी न हो और पास में परधर्म वालों का मंदिर हो, तब हाथी के पैर तले कुचलकर मरना अच्छा, परन्तु उस मन्दिर में प्रवेश करना अच्छा नहीं। वहाँ जाकर प्राण बचाने में पाप है, जो परधर्म स्वीकार करता है, वह सीधा नरकगामी होता है क्योंकि जैन नास्तिक हैं, अनीश्वरवादी हैं। उनके साथ संलाप भी नहीं करना चाहिए।

जैनाचार्यों ने उस युग में भी समन्वय की भावना का त्याग नहीं किया। उन्होंने कभी भी **''न गच्छेत् शैवमन्दिरम्''** का नारा नहीं लगाया। जैन सिद्धान्त तथा जैन संस्कृति इस काम की कभी भी अनुमति नहीं देती क्योंकि मानवता का प्रचार-प्रसार करना ही उसका लक्ष्य था। इसलिए वह सम्प्रदायवाद से दूर रही। आचार्य हरिभद्रसूरि ने लिखा –

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष: कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्य:परिग्रह: ॥

अर्थात् कपिल, गौतम, कणाद आदि के प्रति हमारा द्वेष नहीं है। महावीर के प्रति हमारा पक्षपात नहीं है। जो भी लोक-कल्याणमय वचन हैं, वे सब हमें ग्राह्य हैं। स्वयं महावीर भी हमें यही शिक्षा देते हैं कि जहाँ भी तुम्हें सत्य मिले, उसे अवश्य ग्रहण करो। यह परधर्म का है, स्वधर्म का नहीं, इस दृष्टि से सत्य का निरादर मत करो।

जैनाचार्यों की उदार भावना और असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण की पराकाष्ठा हमें तब देखने को मिलती है जब आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं –

भव-बीजांकुर-जनना रागाद्या: क्षयमुपागतायस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

अर्थात् जिन्होंने भी रागादि भवबीजों का नाश कर दिया है, वे ब्रह्मा हो, विष्णु हो और चाहे शंकर हो, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन चिन्तकों ने सदा ही समन्वयवाद पर जोर दिया है। किसी भी धर्म या सम्प्रदाय की निन्दा न करके उसमें से सत्यांश को ढूंढने का प्रयास किया है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चय में अनेकान्तवाद के सहारे अनेक एकान्तिक वादों, यथा – क्षणिकवाद, नित्यवाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद, प्रकृतिवाद आदि का समन्वय स्थापित किया है। इस समन्वयवाद में वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभी समस्याओं का सुन्दर समाधान सन्निहित है।

१.४ बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. अनेकान्त किसे कहते हैं?
२. स्याद्वाद किसे कहते हैं?
३. सप्तभंगी किसे कहते हैं?
४. Theory of Relativity का सिद्धान्त विज्ञान-जगत् में किसने दिया?
५. अनेकान्त के मुख्य फलित क्या हैं?

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. भगवान महावीर के जनतंत्र संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए?
२. अनेकान्तवाद पर विस्तृत निबन्ध लिखें?

इकाई-५.२ जातिवाद की अतात्विकता, साध्य-साधनवाद
(Casteism is non-susbtantial, The Theory of End & Means)

इकाई की रूपरेखा

२.० उद्देश्य
२.१ प्रस्तावना
२.२ जातिवाद की अतात्विकता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

२.३ जातिवाद और ब्राह्मण परम्परा
२.४ जातिवाद और श्रमण परम्परा
२.५ जाति का विभाजन कबसे और क्यों
२.६ उच्चता-नीचता का आधार जाति नहीं
२.७ साध्य साधनवाद
२.७.१ मार्क्स का चिन्तन
२.७.२ महात्मा गाँधी का चिन्तन
२.७.३ आचार्य भिक्षु का चिन्तन
२.८ शुद्ध साध्य की प्राप्ति शुद्ध साधन से
२.९ धर्म प्राप्ति का साधन धन नहीं
२.१० धम प्राप्ति का साधन है – हृदय परिवर्तन
२.११ चिन्तन की दो धाराएँ
२.१२ बोध प्रश्न

२.० उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

* जातिवाद का विभाजन वास्तविक नहीं है, इसे जान सकेंगे।
* यह विभाजन मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिए किया था अत: इसके आधार पर किसी को उँच्च-नीच मानना ठीक नहीं है।
* शुद्ध साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी शुद्ध होने चाहिए।

२.१ प्रस्तावना

इस इकाई में यह समझाने का प्रयास किया गया है कि मनुष्य जाति एक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र – यह विभाजन मनुष्य ने अपने ही कार्य की सुविधा के लिए किया था अत: कार्य के आधार पर किसी को उँच्च-नीच मानना अनुचित है। उच्च जाति में जन्म लेने मात्र से व्यक्ति उँच्चा और नीच जाति में जन्म लेने मात्र से व्यक्ति नीचा नहीं बनता। नीची जाति में जन्म लेने पर भी व्यक्ति यदि अच्छे कर्म करता है तो वह महान है।

इसी प्रकार अनुचित साधनों से अपने साध्य को प्राप्त करना भी अनुचित है। शुद्ध साधन से ही शुद्ध साध्य प्राप्त हो सकता है। अत: जैन दर्शन में साधन-शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है।

२.२ जातिवाद की अतात्विकता (Non-substantiality of Casteism)

जातिवाद के मूल में दो प्रकार की विचारधाराएँ रही हैं – एक ब्राह्मण परम्परा की और दूसरी श्रमण परम्परा की। एक जाति को तात्विक मानती है और दूसरी अतात्विक।

२.३ जातिवाद की तात्विकता (Casteism is Substantial)

ब्राह्मण परम्परा ने जन्मना जाति का सिद्धान्त स्थापित किया। उनके अनुसार जाति ईश्वर द्वारा बनाई गई है अत: व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि होता है। श्रमण परम्परा ने कर्मणा जाति का सिद्धान्त स्थापित किया और उसे अतात्विक माना। उसने जाति-व्यवस्था को समाज-व्यवस्था की सुविधा के लिए मनुष्य द्वारा किया गया वर्गीकरण माना।

ब्राह्मण परम्परा ने कहा – **''ब्रह्मणो मुखान्निर्गता ब्राह्मणा: बाहुभ्यां क्षत्रिया: उरुभ्यां वैश्या: पद्भ्यां शूद्रा: अन्त्येभवा अन्त्यजा:''** अर्थात् ब्रह्मा के मुख से जन्म लेने वाले ब्राह्मण, भुजा से जन्म लेने वाले क्षत्रिय, पेट से जन्म लेने वाले वैश्य और पैरों से जन्म लेने वाले शूद्र हैं। इस प्रकार हर जाति का जन्म-स्थान भिन्न है अत: सिद्ध है कि एक जाति श्रेष्ठ है और दूसरी कम श्रेष्ठ। ब्राह्मणों को सर्वोत्कृष्ट और पूज्य माना और शूद्रों को निकृष्टतम और घृणित माना।

२.४ जातिवाद की अतात्विकता (Casteism is Non-substantial)

श्रमण परम्परा ने जातिवाद तात्विक है, इस मान्यता का विरोध किया और कहा – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कर्म (आचरण) से होते हैं। जाति के आधार पर किसी को हीन मानना अपराध है। मानवता का अपमान है। जातिवाद के विरुद्ध इस महान् क्रान्ति के सूत्रधार थे – भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भगवान महावीर ने कहा – हीन जाति में उत्पन्न व्यक्ति भी तपस्या, साधना आदि के द्वारा श्रेष्ठ बन सकता है और पूज्यता को प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत उच्चकुल में उत्पन्न होकर भी चरित्र-भ्रष्ट व्यक्ति उच्चता प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए जाति की दृष्टि से न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त। न कोई ऊंचा है और न कोई नीचा।

श्रमण परम्परा के अनुसार यदि हम निश्चयदृष्टि से देखें तो तत्त्वत: मनुष्य जाति एक है। मनुष्य आजीवन मनुष्य रहता है, पशु नहीं बनता। कर्म के आधार पर निर्धारित की जाने वाली जाति में तात्विकता का कोई लक्षण नहीं, क्योंकि कर्म बदलने पर जाति भी बदल जाती है। जैसे रत्नप्रभसूरि ने बहुत से शूद्रों को जैन बनाया। आगे चलकर उन शूद्रों का कर्म व्यवसाय हो गया। उनकी सन्तानें आज कर्मणा वैश्य-जाति में है। भारत में शक, हूण आदि अनेक विदेशी आये और भारतीय जातियों में ही समा गये।

व्यवहार दृष्टि से ब्राह्मण कुल में जन्म लेने वाले को ब्राह्मण और वैश्य कुल में जन्म लेने वाले को वैश्य कहा जा सकता है पर इसको तात्विकता से नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि ब्राह्मण कुल में पैदा होने वाले व्यक्ति में वैश्योचित और वैश्य कुल में जन्म लेने वाले में ब्राह्मणोचित कर्म देखे जाते हैं। यदि जाति या वर्ण-व्यवस्था तात्विक या ईश्वरकृत होती तो भारत में ही क्यों अन्यत्र भी पायी जाती।

२.५ जाति का विभाजन कब और क्यों ? (Division of Castes Since When And Why)

प्रश्न होता है – हिन्दुस्तान में जाति का विभाजन कब और क्यों हुआ, तथा जातिवाद क्यों पनपा ?

जैन परम्परा के अनुसार प्राचीन काल में मनुष्य जाति एक थी। युग के प्रारम्भ में जातियों की व्यवस्था नहीं थी। वह यौगलिक युग था। जनसंख्या सीमित थी। जब यौगलिक युग समाप्त हुआ। कर्मयुग का प्रवर्तन हुआ। भगवान ऋषभ राजा बने। उन्होंने मनुष्य समाज को कुछ वर्गों में विभाजित कर दिया। राज्य-संचालन के लिए कुछ व्यवस्थायें दी। जहां व्यवस्था होती है, वहां विभाग आवश्यक होता है। उन्होंने समाज को तीन विभागों में बांटा – १. पराक्रम, २. कौशल और ३. उत्पादन। इन तीनों के प्रतीक बने – असि, मसि, कृषि शब्द।

जब जनसंख्या बढने लगी, कल्पवृक्ष घटने लगे और लोगों की जरूरतें बढने लगीं तो ऋषभ ने निर्देश दिया – उत्पादन बढ़ाओ और समाज की जरूरतों को पूरा करो। इससे 'कृषि' का विकास हुआ। उत्पादन के विनिमय-वितरण और निर्यात के लिए 'मसि' का विकास हुआ। जहाँ विनिमय की बात होती है, वहां संघर्ष की संभावनाएँ भी रहती है अत: सबके संरक्षण हेतु 'असि' कर्म का विकास हुआ

इस प्रकार भगवान ऋषभ ने तत्कालीन सामाजिक अपेक्षाओं के आधार पर समाज की सुविधा, विकास और सुरक्षा की दृष्टि से असि-मसि-कृषि तीन वर्ग की व्यवस्था दी, जो क्रमश: क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति के नाम से जाने गए। जो व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से संपन्न थे, अपनी एवं दूसरों की सुरक्षा का दायित्व संभालने में सक्षम थे, पराक्रमी और अन्याय से लड़ने वाले थे, उन्हें पहचान की दृष्टि से क्षत्रिय कहा जाने लगा।

जो लोग कृषि, पशुपालन आदि कार्य करते, वस्तुओं का क्रय-विक्रय अथवा विनिमय करते, उन्हें वैश्य वर्ग में रखा गया तथा जो इन दोनों कामों में समर्थ नहीं थे पर क्षत्रियों और वैश्यों – सभी की सेवा करते उनको शूद्र वर्ग में रखा गया।

ऐतिहासिक दृष्टि से ब्राह्मण वर्ग की स्थापना या उत्पत्ति सम्राट भरत के शासनकाल से मानी जाती है। ऐसा माना जाता है कि भरत ने सतत धर्मजागरण के लिए कुछ बुद्धिमान व्यक्तियों को नियुक्त किया। वे समय-समय पर राज्यसभा एवं अन्य स्थानों में जाकर धर्म की प्रेरणा देते। वे प्राय: ब्रह्मचारी रहते तथा ब्रह्मचर्या में लीन रहते अत: उन्हें ब्राह्मण कहा गया।

इस प्रकार चार वर्णों की उत्पत्ति भगवान ऋषभ एवं सम्राट भरत के काल में हुई। यही जातिवाद का बीजवपन था पर इस समय जातियों में न कट्टरता थी और न जाति या वर्ण के नाम पर उच्च-नीच की भावना। धीरे-धीरे जाति का अहंकार बढ़ा। ब्राह्मण वर्ग ने वेदों के अध्ययन पर एकाधिकार जमा लिया। उन्होंने अपने आपको ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न बताया। क्षत्रिय वर्ग में शक्ति थी अत: उसकी उपेक्षा भी सम्भव नहीं थी। लेकिन वर्ण के आधार पर ब्राह्मणों ने उन्हें नीचा दर्जा दिया और उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा की भुजाओं से बताईगई। इस प्रकार उत्तरकाल में जातिवाद रूढ़ हो गया। व्यक्ति कर्म से नहीं, जाति से महान् माना जाने लगा। ब्राह्मण पूज्य माने जाते, शूद्र और चाण्डाल हेय माने जाते। छुआछूत की भावना पनपने लगी। उत्तराध्ययन में प्राप्त होने वाला हरिकेशबल का विवरण इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

भगवान महावीर ने आत्मा की समानता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा – सब जीवों को अपने समान समझो। कोई भी जीव न जन्म से महान होता है और न हीन। जातिवाद की अतात्विकता इसी का विस्तार है। उन्होंने क्रान्ति की भाषा में कहा –

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

जाति व्यवस्था व्यक्ति की कर्मजा शक्ति के साथ जुड़ी हुई है। मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है। ब्राह्मणों में भी अनपढ़ हो सकते हैं। क्षत्रिय जाति में भी कोई भीरु (डरपोक) हो सकता है। वैश्य परिवार में जन्म लेने वालों में भी सबकी व्यावसायिक बुद्धि हो, यह आवश्यक नहीं है। एक व्यक्ति का जन्म उच्च जाति में हो सकता है किन्तु यदि उसका आचरण अच्छा नहीं है तो उसे जातिमान नहीं कहा जा सकता। इसलिए जाति को लेकर किसी से घृणा मत करो। भगवान महावीर और बुद्ध ने जातिवाद के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन चलाया। उन्होंने कहा – जाति सामाजिक व्यवस्था है। वह जन्म से निर्धारित नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मनुष्य जाति एक है (The Whole Human Race is One)

'एक्का मणुस्स जाइ' मनुष्य जाति एक है। शूद्र और ब्राह्मण में रंग और आकृति की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। दोनों की गर्भाधान विधि और जन्म पद्धति भी एक ही है। गाय और भैंस में जैसे जातिकृत भेद है, वैसा भेद शूद्र और ब्राह्मण में नहीं है। इसलिए मनुष्य-मनुष्य के बीच जो जातिकृत भेद है, वह परिकल्पित है। व्यक्ति अपने गुण एवं कर्म से महान् बनता है। उसका अच्छा आचरण एवं श्रेष्ठ ज्ञान ही उसे पूज्य बनाता है। केवल उच्चकुल में पैदा होने से कोई पूज्य नहीं हो सकता।

वैदिक विचार के अनुसार ये चार वर्ण सृष्टि-विधानसिद्ध हैं, नैसर्गिक हैं। जैन दृष्टि के अनुसार ये नैसर्गिक नहीं हैं। इनका वर्गीकरण क्रिया के आधार पर हुआ है। वर्तमान में हजारों नई जातियां बन गई हैं। जाति की यह परिवर्तनशीलता ही इनकी अतात्विकता का प्रमाण है। अत: तात्विक दृष्टि से मनुष्य जाति एक है।

२.६ उच्चता-नीचता का आधार जाति नहीं (Caste is not the Basis of Superiority or Inferiory)

वास्तव में जाति आदि को लेकर किसी को ऊँचा-नीचा समझना अच्छी बात नहीं है। उच्च जाति में उत्पन्न होकर भी व्यक्ति कर्म से नीचा हो सकता है और नीच जाति में उत्पन्न होकर भी व्यक्ति कर्म से उच्च हो सकता है। किसी को जाति के आधार पर उच्च-नीच समझना मात्र मान्यता का प्रश्न है। किसी भी मान्यता के पीछे व्यक्ति की वृत्तियाँ काम करती हैं। जैन मनोविज्ञान की दृष्टि से जातिवाद और सम्प्रदायवाद के पीछे मूलवृत्ति है – राग। जहां राग होता है वहाँ द्वेष निश्चित होता है। अपनी जाति के प्रति राग व्यक्ति में अहंभाव भरता है और अन्य जाति के प्रति द्वेष घृणा का वातावरण निर्मित करता है। राग और द्वेष को प्रकट होने के लिए किसी-न-किसी माध्यम की जरूरत होती है। जातिगत भेद-भाव के माध्यम से इस वृत्ति को भारतीय समाज में प्रकट होने का मौका मिला। पश्चिमी देशों में जाति की समस्या नहीं है, वहाँ रंगभेद की समस्या बहुत विकराल है। रंग के आधार पर काले और गोरे – ये दो वर्ग बन गये। संघर्ष का अन्तहीन सिलसिला चालू हो गया। पर सचाई यह है कि किसी को हीन मानकर अपनी उच्चता कभी स्थापित नहीं की जा सकती। जातिवाद की मान्यता का आधार है – अहंकार। व्यक्ति में अहंकार होता है और वह उसे प्रदर्शित करता है। उसकी अभिव्यक्ति का एक रूप बनता है– जातिवाद। महावीर ने कहा – जो जाति, कुल आदि का अहंकार करता है, वह नीच गोत्र को प्राप्त करता है। इस प्रकार उन्होंने जातिवाद पर दोनों तरफ से प्रहार किया।

जैन संस्कृति के कर्मणा जाति के सिद्धान्त ने वैदिक ऋषियों को भी प्रभावित किया। जाति को तात्विक मानने वाले दर्शनों ने भी उत्तरकाल में यह घोषणा की कि मनुष्य अच्छा-बुरा कर्मों से होता है, जाति से नहीं। महाभारत एवं पुराण काल में कर्मणा जाति के सिद्धान्त का प्रतिपादन होने लगा। महाभारत में ब्राह्मण के लक्षण इस प्रकार बतलाए गये हैं –

❋ जो सब प्रकार की आसक्तियों से छूटकर मुनि-वृत्ति से रहता है। आकाश की तरह निर्लिप्त और स्थिर है। किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता। एकाकी विचरता है और शान्त भाव से रहता है, उसे देवता ब्रह्मवेत्ता मानते हैं।

❋ जिसका जीवन धर्म के लिए और धर्म भगवान श्रीहरि के लिए होता है, जिसके दिन और रात धर्म-पालन में ही व्यतीत होते हैं, उसे देवता ब्रह्मज्ञ मानते हैं।

❋ जो कामनाओं से रहित तथा सब प्रकार के आरंभों (हिंसा) से रहित है, नमस्कार और स्तुति की इच्छा से दूर रहता है तथा सब प्रकार के बंधनों से मुक्त होता है, उसे ही देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं।

ब्रह्मपुराण के अनुसार शूद्र ब्राह्मण बन जाता है और वैश्य क्षत्रिय हो जाता है। वज्रसूचिकोपनिषद एवं भविष्यपुराण में भी जातिवाद की आलोचना मिलती है, पर व्यवहार में वह नहीं आई है। सैद्धान्तिक दृष्टि से जाति को अतात्विक मानने वाला जैन समाज भी जातिवाद की लोह-शृंखला से मुक्त नहीं है। अपेक्षा है इसे व्यवहार में परिवर्तित करने की।

आचार्य तुलसी ने 'अणुव्रत' के माध्यम से इस दिशा में भगीरथ प्रयास किया है। जातिवाद के आधार पर पनपी ऊँच-नीच और छुआछूत की धारणाओं को तोड़ा है। अणुव्रत के कुछ नियम इसी से सम्बन्धित हैं, जैसे –

❋ मैं जाति के आधार पर किसी को अस्पृश्य नहीं मानूंगा।

❋ मैं जाति के आधार पर किसी को ऊँचा-नीचा नहीं मानूंगा, घृणा नहीं फैलाऊँगा।

आचार्य विद्यानन्द ने भी जैन धर्म में जातिवाद की अतात्विकता पर बल दिया है। इस प्रकार जैन दर्शन ने जन्मना जाति को महत्त्व न देकर कर्मणा जाति को महत्त्व दिया। कर्म के आधार पर ही उसकी उच्चता और नीचता का प्रतिपादन किया। जातिवाद को अतात्विक मानना जैन चिन्तकों का चिन्तन के क्षेत्र में एक अपूर्व योगदान है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

२.७ साध्य-साधनवाद (The Theory of Ends & Means)

भारतीय एवं पाश्चात्य धर्म दर्शनों में साध्य-साधन का प्रश्न बहुत चर्चित रहा है। इस सन्दर्भ में अनेक विचारधाराएँ उपलब्ध होती हैं।

२.७.१ मार्क्स का कथन (Mark's Theory)

साध्य-साधन के सन्दर्भ में मार्क्स ने कहा – अगर साध्य को पाना है, तो उसके लिए साधन के शुभ या अशुभ होने की चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। यदि अच्छे साधन से साध्य मिले तो अच्छी बात है और न मिले तो साध्य को पाने के लिए अशुभ साधन का भी सहारा लिया जा सकता है। हिंसा का भी प्रयोग किया जा सकता है। साम्यवाद व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त करने के लिए हिंसा को अपनाता है। वह केवल बाहरी व्यवस्था के परिवर्तन की बात करता है। किन्तु जब तक भीतर का परिवर्तन नहीं होता, बाहरी परिवर्तन अधूरा समाधान है।

२.७.२ महात्मा गांधी का चिन्तन (Gandhian Theory)

महात्मा गांधी ने साध्य को प्राप्त करने के लिए शुद्ध साधन पर बल दिया। उन्होंने कहा – हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता मेरा लक्ष्य है, किन्तु वह अहिंसा के द्वारा मिले तभी मुझे मान्य है, अन्यथा मैं परतंत्र रहना ही पसन्द करूँगा। इस प्रकार गांधीजी ने साधन-शुद्धि पर बल दिया। गुजरात के प्रसिद्ध लेखक डॉ. गोकुलदास नानजी भाई के अनुसार – आचार्य भिक्षु का साध्य-साधन का विचार संक्रान्त होते-होते श्रीमद् राजचन्द्र के पास पहुंचा और श्रीमद् राजचन्द्र का विचार गांधी के पास पहुंचा। इस प्रकार गांधी के विचार का मूल है आचार्य भिक्षु का साध्य-साधनवाद।

२.७.३ आचार्य भिक्षु का चिन्तन (Acharya Bhikshu's Theory)

आचार्य भिक्षु ने कहा – साध्य यदि शुद्ध है तो साधन भी शुद्ध होना चाहिए, क्योंकि साध्य और साधन में दूरी नहीं है। दोनों एक हैं। साधना काल में जो साधन होता है, सिद्धि काल में वह साध्य बन जाता है, उससे पृथक् नहीं रहता।

एक समय था जब धर्म के क्षेत्र में विचित्र धारणाएँ प्रचलित थीं, जैसे – 'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' अर्थात् मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है अत: उसकी रक्षा के लिए सब कुछ किया जा सकता है। उसके लिए हिंसा करना भी अधर्म नहीं है। जैन चिन्तकों ने इसकी मीमांसा की और कहा – यह चिंतन सही नहीं है। हिंसा आखिर हिंसा है, फिर चाहे वह किसी भी उद्देश्य से की जाये। इस धारणा के विरोध में ही उन्होंने साधन-शुद्धि के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा – साधन और साध्य को अलग नहीं किया जा सकता। यदि साधन साध्य के अनुरूप नहीं है तो उससे साध्य की सिद्धि कभी भी नहीं हो पायेगी।

२.८ शुद्ध साध्य की प्राप्ति शुद्ध साधन से (A good End can be Achieved only by Good Means)

आचार्य भिक्षु ने कहा – शुद्ध साध्य का साधन अशुद्ध नहीं हो सकता। यदि मोक्ष साध्य है तो उसका साधन है – संयम। वह संयम से ही प्राप्त हो सकता है, असंयम रूपी साधन से नहीं। यह केवल नैतिक सिद्धान्त ही नहीं, व्यावहारिक भी है, क्योंकि जो साधन अच्छे नहीं होते हैं वे अक्सर साध्य का ही अन्त कर देते हैं और साथ-साथ अनेक समस्याएँ भी पैदा कर देते हैं। उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा – देव-गुरु और धर्म की उपासना करना धार्मिक का साध्य है और उसकी उपासना का साधन है – अहिंसा। जो व्यक्ति हिंसा के द्वारा उनकी उपासना करता है, वह वास्तव में उपासना के मार्ग से भटक जाता है। हिंसा के द्वारा वह कभी भी अपने शुद्ध साध्य को प्राप्त नहीं कर सकता। धर्म की आराधना नहीं कर सकता।

आचार्य भिक्षु का साधन शुद्धि का विचार इतना महत्त्वपूर्ण है कि दर्शन के क्षेत्र में, चिन्तन के क्षेत्र में तथा आचारमीमांसा के क्षेत्र में इसका व्यापक प्रभाव है। जो जिसका साधन नहीं होता, उससे वह साध्य कभी प्राप्त नहीं होता। बिजली जली, प्रकाश हो गया। बिजली प्रकाश का साधन है। खंभा प्रकाश का साधन नहीं है। उससे प्रकाश की सिद्धि कैसे होगी ?

आचार्य भिक्षु ने अहिंसा के संदर्भ में साध्य-साधन का बहुत व्यवस्थित चिन्तन दिया। उन्होंने कहा – बड़े जीवों के लिए छोटे जीवों की हिंसा करना धर्म नहीं। हिंसा हिंसा है, उसे किसी भी परिस्थिति में अहिंसा नहीं माना जा सकता। इसी आधार पर यह भी स्पष्ट है कि जीवन के लिए अनिवार्य हिंसा भी धर्म का हेतु नहीं।

२.९ धर्म का साधन है हृदय-परिवर्तन (Change of Heart is the Means of Religion)

तर्कशास्त्र में जो कारण-कार्य का नियम है, वही अहिंसा के आचरण में साध्य-साधन का नियम है। अहिंसा धर्म का साधन है – हृदय परिवर्तन। बल-प्रयोग और प्रलोभन धर्म के साधन नहीं बन सकते। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार धतूरे को सींचने से आम प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार बल-प्रयोग और प्रलोभन से धर्म नहीं होता। उन्होंने तर्क की भाषा में कहा – यदि बल प्रयोग से धर्म होता तो भरत चक्रवर्ती जो बहुत शक्तिशाली था, वह अपने साम्राज्य में घोषणा करा देता कि कोई किसी का वध नहीं करेगा। पर उसने ऐसा नहीं किया। यदि बल-प्रयोग में धर्म होता तो सम्राट श्रेणिक कालसौकरिक कसाई को भी अहिंसक बना देता, पर वह नहीं बना सका क्योंकि बल-प्रयोग अहिंसा का शुद्ध साधन नहीं। शुद्ध साधन है – हृदय परिवर्तन।

२.१० धर्म-प्राप्ति का साधन धन नहीं (Money is not the Means of Attain Religion)

कुछ लोगों की यह अवधारणा थी कि धन से धर्म को भी खरीदा जा सकता है। पर जैन चिन्तकों ने कहा कि धन से धर्म की प्राप्ति नहीं होती। ये वचन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साधन-शुद्धि की भूमिका पर ही कहे गये थे। भृगु ने अपने पुत्रों से कहा –जिनके लिए लोग तप करते हैं, वे धन, स्त्रियां, स्वजन और कामभोग तुम्हें प्राप्त ही हैं, फिर तुम किसलिए तप करना चाहते हो?

भृगुपुत्रों ने कहा – पिताश्री! धर्माचरण में स्त्री, धन, स्वजन और कामभोगों से क्या प्रयोजन? धर्म की आराधना इनके लिए नहीं की जाती।

जैन आचार्यों ने इसी को आधार मानकर कहा – देव, गुरु और धर्म – ये तीनों अनमोल हैं। इन्हें धन से नहीं खरीदा जा सकता। जो धन के द्वारा मोक्ष धर्म की आराधना बतलाते हैं, वे लोगों को भ्रम के फन्दे में डालते हैं।

जो लोग कसाई को धन देकर बकरों को छुड़वाते हैं, वे बकरों पर दया नहीं करते। धन देकर बकरों को छुड़वाना दया का सही साधन नहीं है, क्योंकि कसाई उस बकरे को तो धन के प्रलोभन में छोड़ देगा पर अन्य बकरों को वह मारेगा ही। दया का सही साधन है, कसाई को समझा बुझाकर हिंसा से विरत करना।

धर्म के साधन दो ही हैं – संवर और निर्जरा। यदि धन के द्वारा धर्म होता तो भगवान महावीर की प्रथम देशना विफल नहीं जाती। महावीर की प्रथम देशना में मनुष्य नहीं पहुंच पाये, केवल देव ही पहुंच पाये। यदि धन से धर्म होता तो देवता भी धर्म कर लेते, व्रत स्वीकार कर लेते, क्योंकि उनके पास वैभव की कमी नहीं थी, पर वे व्रतों का आचरण नहीं कर पाये।

धन सांसारिक उपकार का साधन है, आध्यात्मिक उपकार करने की क्षमता उसमें नहीं है। किसी गरीब को धन देकर सुखी बनाना सांसारिक उपकार है। सांसारिक उपकार से संसार का अन्त नहीं होता, वह होता है आध्यात्मिक उपकार से। अत: धन से धर्म नहीं हो सकता।

२.११ चिन्तन की दो धाराएँ (The Two Streams of Thinking)

चिन्तन की मुख्य दो धाराएँ हैं – लौकिक और आध्यात्मिक। लौकिक धारा का जो साध्य है, वह आध्यात्मिक धारा का साध्य नहीं है। साधन भी दोनों के भिन्न-भिन्न हैं। लौकिक विचार-धारा का साध्य है – जीवन का अभ्युदय और अध्यात्म का साध्य है – आत्मा की मुक्ति। अभ्युदय पदार्थों की वृद्धि से होता है और मुक्ति उनके त्याग से होती है। अभ्युदय का साधन है – परिग्रह। परिग्रह के लिए हिंसा भी करनी पड़ती है। मुक्ति का साधन है – त्याग। त्याग के लिए अहिंसा का पालन करना पड़ता है। त्याग और अहिंसा में उतना ही संबंध है, जितना भोग और हिंसा में। यदि दोनों धाराओं के साध्य-साधनों को अलग-अलग समझते हैं तो हम बहुत सारी उलझनों से बच जाते हैं।

इस प्रकार जैन आचार्यों के चिन्तन का निचोड़ यही है कि शुद्ध साध्य के लिए साधन भी शुद्ध होने चाहिए। साध्य यदि मोक्ष है तो परिग्रह, बल-प्रयोग और असंयम उसके साधन नहीं बन सकते। अपरिग्रह, हृदय-परिवर्तन और संयम ही शुद्ध साधन हैं।

२.१२ बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. उच्चता-नीचता का आधार क्या है?
२. साध्य-साधन के सन्दर्भ में मार्क्स का कथन क्या है?
३. क्या धन से धर्म किया जा सकता है?
४. धर्म के साधन क्या हैं?
५. क्या बड़े जीवों के लिए छोटे जीवों की हिंसा करना धर्म है?

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. जैन दर्शन के अनुसार जातिवाद की अतात्विकता पर प्रकाश डालें?
२. जैन दर्शन के अनुसार साध्य-साधनवाद का विवेचन करें?

इकाई-५.३ अनुकम्पा और नैतिकता की अवधारणा (Compassion and Concept of Morality)

इकाई की रूपरेखा

३.० उद्देश्य
३.१ प्रस्तावना
३.२ अनुकम्पा
३.३ अहिंसा और दया
३.४ अनुकम्पा के दो रूप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

३.४.१ लौकिक अनुकम्पा
३.४.२ लोकोत्तर अनुकम्पा
३.५ बचाना या मारना राग-द्वेष है
३.६ आत्मौपम्य अनुकम्पा है
३.७ नैतिकता की अवधारणा
३.८ पाश्चात्य विचारधारा में नैतिकता
३.९ भारतीय चिनतन में नैतिकता
३.१० जैन दर्शन में नैतिकता
३.११ नैतिकता का आधार : ज्ञान और आचार
३.११.१ आचार के दो रूप
३.१२ नैतिकता के मानदण्ड
३.१२.१ इच्छा परिमाण
३.१२.२ प्रामाणिकता
३.१२.३ साधन-शुद्धि
३.१२.४ मानवीय संबंधों में सुधार
३.१२.५ भोगोपभोग का संयम
३.१३ बोध प्रश्न

३.० उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

* आचार्य भिक्षु के अनुकम्पा संबंधी विचारों से अवगत हो सकेंगे।
* राग-द्वेषवश किसी को बचाना या मारना व्यवहार में अनुकम्पा है, वास्तव में नहीं, इसे जान सकेंगे।
* जैन दर्शन में नैतिकता की अवधारणा एवं नैतिकता के मानदण्डों को समझ सकेंगे।

३.१ प्रस्तावना

इस इकाई में सर्वप्रथम अनुकम्पा का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। सामान्यत: अनुकम्पा का अर्थ है – दया। किसी भी प्राणी को बचाना या उसका सहयोग करना अनुकम्पा है। आचार्य भिक्षु ने अनुकम्पा का सूक्ष्म विवेचन किया और कहा किसी को राग-द्वेषवश बचाना या मारना अनुकम्पा नहीं है। जहाँ रागवश किसी को बचाया जा रहा है, उसे व्यवहार में भले ही अनुकम्पा कह दें पर वह वास्तविक अनुकम्पा नहीं है। वास्तव में अनुकम्पा का अर्थ पापमय आचरण से स्वयं को या दूसरों को बचाना है।

जैन दर्शन में नैतिकता को ज्ञान और आचार का समन्वय माना गया है। इच्छा-परिमाण, प्रामाणिकता, साधन-शुद्धि, मानवीय-संबंधों में सुधार, भोगोपभोग का संयम – ये पाँच नैतिकता के मानदण्ड हैं, जिनका विवेचन इस इकाई में किया जा रहा है।

३.२ अनुकम्पा (Compassion)

अनुकम्पा अर्थात् दया। दया को परिभाषित करते हुए लिखा गया – **'पापाचरणादात्मरक्षा दया'** अर्थात् पापमय आचरणों से अपनी या दूसरों की आत्मा को बचाना दया है।

३.३ अहिंसा और दया (Non-violence and Mercy)

आचार्य भिक्षु ने अहिंसा और दया की एकात्मकता का प्रतिपादन किया। उनका प्रसिद्ध सूक्त है –

जीव जीवै ते दया नहीं, मरे तो हिंसा मत जाण।
मारणवाला नै हिंसा कही, नहीं मारै ते दया गुण खाण॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अर्थात् जीव का जीना दया नहीं है और मरना हिंसा नहीं है अपितु मारना हिंसा है और न मारना दया है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में अहिंसा के साठ पर्यायवाची नाम बताये गये हैं, उनमें एक नाम दया भी है अत: अहिंसा और दया – दोनों एक ही हैं। अहिंसा के बिना दया नहीं हो सकती और दया के बिना अहिंसा नहीं हो सकती। यदि हम दया और अहिंसा को पृथक् करना ही चाहें तो निवृत्यात्मक अहिंसा को अहिंसा और सत्प्रवृत्यात्मक अहिंसा को दया कह सकते हैं।

३.४ अनुकम्पा के दो रूप (Two Kinds of Compassion)

आचार्य भिक्षु ने अनुकम्पा पर स्वतंत्र चिन्तन किया और एक ग्रंथ लिखा – 'अनुकम्पा की चौपइ'। उसमें उन्होंने लिखा –

'गाय भैंस आक थोहर नो ए च्यारूँ ही दूध,
तिम अणुकंपा जाणज्यो राखे मन में सूध।
भोले ही मत भूलज्यो अणुकंपा रे नाम,
कीज्यो अन्तर पारखां ज्यूं सीझे आतम काम ॥'

अर्थात् अनुकम्पा शब्द का सही अर्थ समझना चाहिए। जिस प्रकार गाय, भैंस, आक और थूहर – इन चारों का ही दूध, दूध कहलाता है। दूध नाम में कोई अन्तर नहीं है पर काम में अन्तर होता है। जहाँ गाय और भैंस का दूध शरीर को पुष्ट बनाता है, वहीं आक और थूहर का दूध शरीर के नाश का कारण बन जाता है। उसी प्रकार एक अनुकम्पा मोक्ष का कारण बन जाती है और दूसरी संसार में भटकाती है। इसलिए हमें अनुकम्पा शब्द में न उलझकर उसकी ठीक से पहचान करनी चाहिए। अनुकम्पा के दो प्रकार हैं – १. लौकिक अनुकम्पा, २. लोकोत्तर अनुकम्पा।

जहाँ राग और द्वेष से प्रेरित होकर व्यक्ति कोई अनुकम्पा करता है, वह लौकिक अनुकम्पा है और जहाँ आत्म-रक्षा की भावना से अनुकम्पा करता है, वह लोकोत्तर अनुकम्पा है।

३.४.१ लौकिक अनुकम्पा के उदाहरण (Worldly Compassion)

जैन आगमों में लौकिक अनुकम्पा के अनेक उदाहरण मिलते हैं –

१. अभयकुमार की माता रानी धारिणी को जब मेघकुमार गर्भ में था, तब दोहद (इच्छा) उत्पन्न हुआ कि अकाल में बरसात हो और मैं हाथी पर बैठकर राज्य में भ्रमण करके आऊँ। माता की इच्छा को पूर्ण करने के लिए अभयकुमार ने अपने देवमित्र की आराधना की। देवमित्र ने अभयकुमार पर रागवश अकाल में वर्षा की। देवमित्र के द्वारा इस प्रकार अकाल में वर्षा का किया जाना लौकिक अनुकम्पा है।

२. श्रीकृष्ण जब भगवान अरिष्टनेमि को वंदन करने के लिए जा रहे थे तो रास्ते में एक पुरुष को उन्होंने दु:खी देखा। वह ईंटें उठा रहा था। श्रीकृष्ण ने उस पर अनुकम्पा की, उसका सहयोग किया, एक ईंट उठाकर उसके घर पर रख दी। लोगों ने भी श्रीकृष्ण का अनुकरण किया और एक-एक ईंट उठाकर रख दी। श्रीकृष्ण की यह अनुकम्पा लौकिक अनुकम्पा है।

३.४.२ लोकोत्तर अनुकम्पा के उदाहरण (Super Worldly Compassion)

जहाँ आत्मरक्षा की भावना से दया की जाती है, वह लोकोत्तर है। इसके भी अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं –

१. तपस्वी धर्मरुचि मुनि मासखमण के पारणे में आहार के लिए गये। नागश्री ब्राह्मणी ने कड़वे तुम्बे का विषैला साग पात्र में डाल दिया। आचार्य ने उसे विषैला जान निरवद्य भूमि पर परिष्ठापन करने का आदेश दिया। मुनि ने जैसे ही एक बूँद डाली, सैंकड़ों चींटियाँ आ गई। तपस्वी मुनि ने सोचा – पूरे साग का परिष्ठापन करने पर न जाने कितनी चींटियाँ आयेंगी और उनकी हिंसा होगी। ऐसा सोचकर कड़वे तुम्बे का आहार स्वयं खा लिया। मुनि की चींटियों के प्रति यह दया लोकोत्तर अनुकम्पा का उदाहरण है।

२. बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि राजीमती से विवाह करने के लिए बारात लेकर जा रहे थे। पशु-पक्षियों का करुण क्रन्दन सुनाई दिया। सारथि से जानकारी की तो ज्ञात हुआ कि विवाह में आये मेहमानों के लिए इन पशुओं के मांस का भोजन बनेगा। उनके मन में पशुओं के प्रति अनुकम्पा जागी। सारथि ने कहा – रथ को वापस मोड़ो। मेरे कारण इतने मूक पशुओं की हिंसा हो, ऐसा विवाह मुझे नहीं करना। पशुओं को मुक्त कर दिया गया। अरिष्टनेमि की यह अनुकम्पा लोकोत्तर थी।

३.५ बचाना या मारना राग-द्वेष है (To Save or to Kill is Attechment & Aversion)

कुछ लोगों का चिन्तन था कि जीवों को बचाना अनुकम्पा है तथा यदि मारने वाले को उपदेश न दिया जा सके अथवा समझाने पर भी हिंसक का दिल न बदले तो उसको बलपूर्वक हिंसा से रोकना भी अनुकम्पा धर्म है। आचार्य भिक्षु ने कहा –

एकण रे देवे चपेटी, एकण रो दे उपद्रव मेटी।
ए तो राग-द्वेष नो चालो, दसवेकालिक संभालो ॥

अर्थात् एक के द्वेषवश चांटा मारना और दूसरे का रागवश उपद्रव मिटाना अनुकम्पा नहीं है। यह तो राग-द्वेष का कार्य है। उन्होंने कहा – जीव अपने आयुष्य से जीता है और आयु पूर्ण होने पर मरता है। मारने की प्रवृत्ति हिंसा है और मारने की प्रवृत्ति का संयम करना अहिंसा है। उन्होंने दृष्टान्त की भाषा में कहा – चींटी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जीवित रहे इसलिए आपने उसे नहीं मारा। यदि यह अहिंसा या दया है तो हवा का झोंका आया और चींटी उड़ गई तो आपकी दया भी उड़ गई। किसी का पैर टिका, वह मर गई तो आपकी दया भी मर गई। पर ऐसा नहीं होता।

३.६ आत्मौपम्य अनुकम्पा है (Compassion is equanimity of Soul)

सब जीवों को अपनी आत्मा के समान समझना ही अनुकम्पा है। दसवैकालिक में कहा गया – **'अत्तसमे मनेज्ज छप्पिकाए'** अर्थात् सब जीवों को आत्मतुल्य समझो।

गीता में भी कहा है – **'आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत'** जे अपने लिए प्रतिकूल है, उसका आचरण दूसरों के लिए भी न करें। यद्यपि यह कहा जाता है – **'जीवो जीवस्य भोजनम्'** जीव ही जीव का भोजन है अत: हिंसा अनिवार्य है पर हम उसे धर्म नहीं कह सकते। कुछ लोगों ने इसके विपरीत व्याख्याएँ स्थिर की, जैसे –

१. आवश्यक हिंसा या धर्म के लिए की गई हिंसा, हिंसा नहीं है।

२. बहुतों के लिए थोड़ों की हिंसा, हिंसा नहीं है।

३. बड़ों के लिए छोटे प्राणियों की हिंसा, हिंसा नहीं है।

जैन आचार्यों ने सत्य सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए कहा – हिंसा करना और उसे अहिंसा, दया या पुण्य मानना दोहरी भूल है। हिंसा किसी भी परिस्थिति में अहिंसा या दया नहीं हो सकती। हिंसा और अहिंसा में पूर्व और पश्चिम जैसी दूरी है।

अनुकम्पा के सन्दर्भ में उन्होंने एक मौलिक अवधारणा प्रस्तुत की जो कि सम्यग्दृष्टि की पहचान का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। हमें लौकिक और लोकोत्तर अनुकम्पा के भेद को समझना चाहिए और राग-द्वेष से ऊपर उठकर आत्म-संयम की भावना से अनुकम्पा करनी चाहिए। वही सच्ची अनुकम्पा है।

३.७ नैतिकता की अवधारणा (The Cocnept of Morality)

व्यक्ति के जीवन से जुड़े आचार का अध्ययन जिस शास्त्र के अन्तर्गत होता है, उसे नीतिशास्त्र या नैतिक दर्शन कहते हैं। नीतिशास्त्र को अंग्रेजी में एथिक्स (ethics) कहते हैं। शब्द विज्ञान के अनुसार यह ग्रीक शब्द एथोस से लिया गया है। एथोस का अर्थ है – चारित्र। नीतिशास्त्र मनुष्यों के चरित्र, आचार या व्यवहार का विज्ञान है।

३.८ पाश्चात्य विचारधारा में नैतिकता (Morality in Western Thinking)

विभिन्न नीतिज्ञों ने नैतिकता को अपने-अपने ढंग से व्याख्यायित किया है। मैंकेजी के अनुसार नीतिशास्त्र आचार में सत और शुभ का अध्ययन करता है। अरस्तू के अनुसार – नीतिशास्त्र मानव जीवन के परम लक्ष्य का अन्वेषण है। प्लेटो की परिभाषा में ''नैतिकता सभी का प्रभावशाली समन्वय है।'' सुखवादी सुख को ही नैतिकता मानते हैं। उपयोगितावादी समष्टि के अधिकतम सुख को नैतिकता कहते हैं। काण्ट ने शुभ संकल्प को ही नैतिकता माना है।

३.९ भारतीय चिन्तन में नैतिकता (Morality in Indian Thinking)

पाश्चात्य विचारकों की तरह भारतीय दार्शनिकों ने भी नैतिकता पर विचार किया है। गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग एवं कर्त्तव्यपालन को नैतिकता कहा है। बौद्धदर्शन में अष्टांग पथ को नैतिकता की सीमा में परिगणित किया गया है। सांख्य-योग दर्शन में भी यम-नियम आदि अष्टांग योग ही नैतिकता है।

३.१० जैन दर्शन में नैतिकता (Morality in Jain Philosophy)

पाश्चात्य और भारतीय जगत् में नैतिकता बहुत चर्चित शब्द रहा है। यूनानी दार्शनिकों ने नैतिकता की विस्तृत चर्चा की। जैन दर्शन में नैतिकता शब्द उपलब्ध नहीं होता है, वहाँ इसके लिए 'धर्म' शब्द उपलब्ध होता है। धर्म के दो अंग माने गए हैं – ज्ञान (श्रुतधर्म) और आचार (चारित्रधर्म)।

३.११ नैतिकता का आधार : ज्ञान और आचार (Basis of Morality : Knowledge and Conduct)

सुकरात ने नैतिकता का लक्ष्य माना – परम शुभ को प्राप्त करना। उनकी भाषा में परम शुभ है – ज्ञान। ज्ञान से अतिरिक्त कोई नैतिकता नहीं है। जैन दर्शन में भी धर्म का पहला अंग ज्ञान को माना गया है। जिस व्यक्ति को श्रेय और पप का सम्यक् ज्ञान ही नहीं होता, वह उसका आचरण भी नहीं कर सकता। पहले आचार का ज्ञान होना जरूरी है। ज्ञान के बाद ही आचार का अनुशीलन किया जा सकता है किंतु सुकरात की भांति केवल 'ज्ञान' को ही परमशुभ या नैतिकता मानना एकांगी दृष्टिकोण है। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान के साथ-साथ आचार भी नैतिकता का अंग है।

ज्ञान जानने का परम बिन्दु है, किन्तु ज्ञान परम बिन्दु तक नहीं ले जाता। ज्ञान जब आचार में बदल जाता है तो परम बिन्दु की प्राप्ति होती है। अत: जैन दर्शन के अनुसार नैतिकता ज्ञान और आचार का समन्वय है।

३.११.१ आचार के दो रूप (Two Forms of Conduct)

जैन दर्शन के अनुसार नैतिकता का आधार है – ज्ञान और आचार। आचार का अनुशीलन करने पर आचार भी दो भागों में विभक्त हो गया – आत्माभिमुखी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

और समाजाभिमुखी। श्रमण का आचार पांच महाव्रत है और श्रावक का आचार पांच अणुव्रत है। आत्मा की पवित्रता को लक्ष्य करके जब इनका पालन किया जाता है तो यह आचार आत्माभिमुखी होता है। किन्तु इसका परिणाम समाजाभिमुखी भी होता है। जैसे मैं किसी जीव को नहीं मारूँगा, किसी विषय को लेकर झूठ नहीं बोलूंगा, चोरी नहीं करूंगा, अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करूँगा, अमुक मात्रा से अधिक परिग्रह नहीं रखूंगा – इन सब व्रतों का सम्बन्ध जहाँ अपने आत्मिक विकास के साथ है, वहीं समाज के साथ भी है। अत: महाव्रत और अणुव्रत – ये दोनों समाजाभिमुखी आचार हैं। इन व्रतों का आचरण ही नैतिकता है। इन व्रतों के आचरण की पृष्ठभूमि में आत्माभिमुखता है, वहीं व्यवहार में समाजाभिमुखता है।

३.१२ नैतिकता का मानदण्ड (The Parameters of Morality)

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर नैतिकता के मानदण्ड बदलते रहते हैं। एक समय में एक कार्य को नैतिक माना जाता है और दूसरे समय में उसी कार्य को अनैतिक मान लिया जाता है। किसी देश में एक कार्य को नैतिक माना जाता है, दूसरे देश में उसे अनैतिक मान लिया जाता है। देश और काल के साथ-साथ नैतिकता के मानदण्ड बदलते रहते हैं। आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार नैतिकता का मुख्य मानदण्ड है – संयम। जहां-जहां संयम है, वहां-वहां नैतिकता है। जहां संयम नहीं है वहां नैतिकता नहीं हो सकती। संयम आत्माभिमुखी भी है, समाजाभिमुखी भी है। अपनी इन्द्रियों पर संयम करना आत्माभिमुखी कार्य भी है, वह नैतिक कार्य भी हो सकता है। अणुव्रत आन्दोलन नैतिक आन्दोलन है, इसीलिए उसका मूल सूत्र है 'संयम: खलु जीवनम्' – संयम ही जीवन है। इसका अर्थ है – नैतिक कार्य वही है जहां संयम है। जिस कार्य के साथ संयम नहीं है, उस कार्य को कभी नैतिक नहीं कहा जा सकता। संयम की साधना के निम्नलिखित पांच मानदण्ड हैं, जो कि नैतिकता के ही मानदण्ड हैं –

१. नैतिकता का पहला मानदण्ड है – इच्छा-परिमाण।
२. नैतिकता का दूसरा मानदण्ड है – प्रामाणिकता।
३. नैतिकता का तीसरा मानदण्ड है – साधन-शुद्धि।
४. नैतिकता का चौथा मानदण्ड है – मानवीय संबंधों में सुधार।
५. नैतिकता का पांचवा मानदण्ड है – भोगोपभोग का संयम।

३.१२.१ इच्छा-परिमाण (Limit of Desire)

नैतिकता का पहला मानदण्ड है – इच्छा-परिमाण। सामाजिक एवं अर्थशास्त्रीय दृष्टि के अनुसार इच्छाएँ जितनी अधिक होगी उतना ही उत्पादन बढ़ेगा, विकास को गति मिलेगी। धार्मिक दृष्टि से इच्छा को बढ़ाना अच्छा नहीं है, क्योंकि इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त होती हैं। वे कभी पूरी नहीं होती। इच्छा पूरी न होने पर व्यक्ति दु:खी होता है या फिर अनैतिक तरीके से इच्छा पूरी करने की कोशिश करता है। अत: नैतिकता का पहला सूत्र बनता है – इच्छा-परिमाण। आहार, धन आदि जितनी भी इच्छाएँ हैं, उनका परिमाण करें, संयम करें, उसे असीम न बनाएँ।

३.१२.२ प्रामाणिकता (Honesty)

नैतिकता का दूसरा मानदण्ड बनता है – प्रामाणिकता। यह नैतिकता का मूल स्वरूप है। प्रामाणिक होना समाज की पवित्रता के लिए प्राथमिक अपेक्षा है। इच्छा-परिमाण के बिना प्रामाणिकता का विकास संभव नहीं है। आज सबसे बड़ी समस्या यह है कि एक ओर इच्छा के विस्तार की बात कही जाती है, दूसरी ओर प्रामाणिक रहने की बात कही जाती है। जब तक इच्छा असीम है, तब तक प्रामाणिक और नैतिक बनना संभव नहीं है। जब इच्छा का सीमाकरण हो जाता है, तब व्यक्ति प्रामाणिक व्यवहार करता है।

३.१२.३ साधन-शुद्धि (Fair Means)

नैतिकता का तीसरा मानदण्ड है – साधन-शुद्धि। जब तक इच्छा-परिमाण और प्रामाणिकता की चेतना विकसित नहीं होती तब तक साधन-शुद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। इच्छाओं की पूर्ति के लिए येन-केन-प्रकारेण धन जुटाने के साधनों का ही विकास होता है। किन्तु इच्छा-परिमाण और प्रामाणिकता का विकास होने पर व्यक्ति अर्थार्जन के साधन में शुद्धि रखता है।

३.१२.४ मानवीय संबंधों में सुधार (Improvement in Human Relations)

नैतिकता का चौथा मानदण्ड है – मानवीय संबंधों में सुधार। उद्योग के क्षेत्र में देखें, व्यापार, प्रशासन और परिवार के क्षेत्र में देखें, प्रत्येक क्षेत्र में मानवीय संबंधों की समस्या बहुत जटिल है। एक मिल-मालिक, मजदूर से अधिक से अधिक काम लेना चाहता है, पर कम-से-कम वेतन देना चाहता है। मजदूर अधिकाधिक वेतन लेना चाहता है और कम-से-कम काम करना चाहता है। उद्योग जगत में यह बहुत बड़ी समस्या है। इसी समस्या के कारण हड़ताल, घेराबंदी, तालाबंदी आदि-आदि होते रहते हैं। मानवीय संबंधों में सुधार का कारण है करुणा का विकास। अच्छा व्यक्ति वही बन सकता है, जिसमें क्रूरता कम हो। करुणा का विकास हो।

करुणा का ही दूसरा रूप है – मैत्री। यदि व्यक्ति में मैत्री की भावना का, सबके प्रति मंगल भावना का विकास हो जाए तो करुणा का विकास हो सकता है, क्रूरता में कमी आ सकती है। प्रसिद्ध श्लोक है –

सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुखभाग् भवेत्॥

कोई भी व्यक्ति दु:खी न बने, सब सुखी और निरामय बनें। सबका कल्याण हो। इस पद्य का उच्चारण तो बहुत होता है पर क्रियान्विति नहीं होती। मैं निरामय बनूं, मुझे कल्याण प्राप्त हो। कोई सुखी बने या न बने। व्यक्ति का चिन्तन मैं और मेरा – इन दो सूत्रों से जुड़ा हुआ रहता है। यह स्वार्थ की चेतना, क्रूरता का प्रतिफल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है।

३.१२.५ भोगोपभोग का संयम (Restraint Over his Consumption)

नैतिकता का पांचवां मानदण्ड है – भोगोपभोग का संयम। धन का अर्जन करने वाले व्यक्ति के सामने प्रश्न होगा –इसका उपयोग कैसे हो? धन के उपयोग के दो तरीके हैं, पहला है – अपनी संपत्ति के व्यक्तिगत भोग में अधिक से अधिक व्यय करना। दूसरा है – सम्पत्ति भोग का व्यक्तिगत भोग में कम प्रयोग करना, सामाजिक उपयोग में सम्पत्ति का अधिक व्यय करना। जैन श्रावक को निर्देश दिया गया – चाहे उसके पास प्रचुर सम्पत्ति है पर उसका अपना व्यक्तिगत जीवन बहुत संयमित हो। आनन्द श्रावक इसका एक उदाहरण है। वह बहुत धनाढ्य था पर साथ ही बहुत संयमी था। सीधा-सादा रहन-सहन, साधारण खान-पान और सीमित कपड़े – यह उसका जीवन था। आज की स्थिति इसके विपरीत है। वर्तमान मनुष्य साज-सज्जा पर, अपने खान-पान पर, अपने कार्यों पर, अपने परिजनों के ब्याह-शादी में चाहे जितना खर्च कर देता है पर समाज के लिए नहीं। इसलिए श्रावक (गृहस्थ) के लिए एक व्रत का निर्देश किया गया – भोगोपभोग-परिमाण व्रत।

नैतिकता की पहली शर्त है –इच्छा परिमाण और उसकी अन्तिम बात है भोगोपभोग की सीमा। जब इच्छा परिमित होती है और भोगोपभोग सीमित होता है, तब प्रामाणिकता, अर्थार्जन के साधनों में शुद्धि आदि अपने आप फलित होने लगते हैं। इनका परस्पर सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। जहां भोग की लालसा है, वहां क्रूरता अवश्य है। क्रूर बने बिना अधिक पदार्थों को जुटाया नहीं जा सकता। क्रूरता बढ़ेगी तो अर्थार्जन के साधन शुद्ध नहीं रहेंगे। अर्थार्जन के साधन अशुद्ध होंगे तो अप्रामाणिकता बढ़ेगी। यह सारा जो चक्र है, वह इच्छा-परिमाण और भोगापभोग की सीमा – इन दोनों के बीच में है। अगर ये दो होते हैं तो नैतिकता फलित होने लगती है। ये दो नहीं होते हैं तो अर्थार्जन और मानवीय सम्बन्ध में गड़बड़ियां होने लगती हैं। इन दो सूत्रों पर श्रावक के जीवन में बहुत विचार किया गया है – यदि श्रावक (गृहस्थ) इच्छा का परिमाण करे और भोगोपभोग की सीमा करे तो उसके जीवन में नैतिकता की प्रतिष्ठा स्वतः हो जाती है।

इस प्रकार जैन दर्शन में नैतिकता का आधार ज्ञान और आचार दोनों को माना गया है जो कि चिन्तन के विकास में उनका एक मौलिक योगदान है।

३.१३ बोध प्रश्न

प्रश्न-१. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें –

१. अनुकम्पा किसे कहते हैं?
२. अनुकम्पा के कितने प्रकार हैं?
३. अनुकम्पा की चौपइ ग्रन्थ के लेखक कौन हैं?
४. नैतिकता का आधार क्या है?
५. नैतिकता के मानदण्ड क्या हैं?

प्रश्न-२. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें –

१. आचार्य भिक्षु के अनुकम्पा संबंधी विचारों को स्पष्ट करें।
२. नैतिकता के स्वरूप और उसके मानदण्डों का विवेचन करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रश्न बैंक

१. जैन धर्म के स्वरूप को बताते हुए उसकी प्रमुख विशेषताओं का विवेचन करें ?

२. जैन धर्म के स्वरूप को बताते हुए उसकी प्राचीनता को सिद्ध करें।

३. जैन दर्शन के अनुसार कालचक्र की अवधारणा को स्पष्ट करें।

४. कुलकर किसे कहते हैं ? उनके समय प्रचलित दण्डनीतियों का विवेचन करें।

५. सिद्ध करें कि भगवान ऋषभ का जीवन एक समग्र जीवन था ?

६. भगवान ऋषभ के जीवन दर्शन पर प्रकाश डालते हुए यह बतायें कि उन्होंने कौन-सी सामाजिक परम्पराओं का सूत्रपात किया ?

७. 'साम्राज्य लिप्सा एक बहुत बड़ा अभिशाप है' इस कथन की पुष्टि कीजिए।

८. भरत-बाहुबलि के बीच हुए युद्ध के कारण को बताते हुए यह बताएँ कि दोनों के बीच कौन-कौन से युद्ध हुए ?

९. भगवान ऋषभ पर लगाये गये आरोप का परिहार भरत ने किस प्रकार किया ?

१०. सिद्ध करें कि भरत अनासक्त योगी थे।

११. भगवान अरिष्टनेमि का परिचय देते हुए उनके वैराग्य का कारण बताएँ।

१२. सिद्ध करें कि भगवान अरिष्टनेमि का श्रीकृष्ण के साथ पारिवारिक और आध्यात्मिक संबंध थे।

१३. भगवान पार्श्वनाथ का परिचय देते हुए उनके चातुर्याम धर्म का विवेचन करें।

१४. सिद्ध करें कि भगवान अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष थे।

१५. भगवान महावीर के जीवन-दर्शन को बताते हुए उनकी साधना-पद्धति पर प्रकाश डालें।

१६. गणधर किसे कहते हैं ? भगवान महावीर ने उनकी शंकाओं का समाधान किस प्रकार किया ?

१७. निह्नव किसे कहते हैं ? विस्तार से विवेचन करें।

१८ भगवान महावीर के समय प्रचलित विविध वादों का विवेचन करें।

१९. जैन धर्म के प्रमुख सम्प्रदायों का विवेचन करें।

२०. किन्हीं तीन श्वेताम्बर आचार्यों के जीवन-दर्शन का विस्तार से विवेचन करें।

२१. किन्हीं तीन दिगम्बर आचार्यों के जीवन-दर्शन का विस्तार से विवेचन करें।

२२. आगम को परिभाषित करते हुए आगम-वाचनाओं पर प्रकाश डालें।

२३. आगम किसे कहते हैं ? द्वादशांग का विवेचन करें।

२४. उपांग किसे कहते हैं ? उनका विवेचन करें।

२५. दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार मूल आगम सुरक्षित हैं या नहीं, बताते हुए उन्के आगम साहित्य का विवेचन करें।

२६. आगमों पर व्याख्या-साहित्य क्यों लिखा गया ? व्याख्या साहित्य पर प्रकाश डालें।

२७. मूलसूत्र और छेदसूत्रों का विवेचन करें।

२८. प्रादेशिक साहित्य में मुख्य रूप से किन भाषाओं में साहित्य उपलब्ध है, विवेचन करें।

२९. जैन संस्कृति की विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

३०. जैन धर्म के प्रमुख पर्वों का विवेचन करें।

३१. कला किसे कहते हैं ? जैन चित्रकला का विस्तार से विवेचन करें।

३२. तीर्थ किसे कहते हैं ? प्रमुख जैन तीर्थस्थलों का विवेचन करें।

३३. जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में किन-किन राजाओं का विशेष योगदान रहा ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

३४. भारत के किन-किन अंचलों में जैन धर्म का प्रभाव था ?

३५. जैन धर्म के विकास और ह्रास के कारणों पर प्रकाश डालें।

३६. सिद्ध करें कि जैन धर्म में मूर्तिकला का इतिहास प्राचीन है।

३७. महावीर के जनतन्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।

३८. जैन धर्म में जातिवाद तात्विक है या अतात्विक ? विवेचन कीजिए।

३९. साध्य-साधन सम्बन्धी सिद्धान्तों को स्पष्ट कीजिए।

४०. जैन दर्शन की प्रमुख देन अनेकांतवाद है, स्पष्ट कीजिए।

४१. आचार्य भिक्षु के अनुकम्पा सम्बन्धी सिद्धान्त पर लेख लिखिए।

४२. जैन दर्शन के अनुसार नैतिकता के स्वरूप और मानदण्डों को स्पष्ट कीजिए।

सन्दर्भ-ग्रंथ

१. जैन परम्परा का इतिहास, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती संथान, लाडनूँ

२. जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, भागचन्द भास्कर, आलोक प्रकाशन, नागपुर

३. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, डॉ. हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश, शासन परिषद, भोपाल

४. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, आचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ, चूरू

५. जैन धर्म एवं दर्शन, मुनि प्रमाण सागर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ–341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

स्नातक (बी.ए.) प्रथम वर्ष

विषय–जैन विद्या

प्रथम पत्र

जैन इतिहास और संस्कृति

संवर्ग

संवर्ग– I	:	भगवान ऋषभ से पार्श्वतक
संवर्ग– II	:	भगवान महावीर एवं उनकी उत्तरवर्ती परम्परा
संवर्ग– III	:	जैन साहित्य
संवर्ग– IV	:	जैन संस्कृति
संवर्ग– V	:	चिन्तन के विकास में जैन धर्म का योगदान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विशेषज्ञ समिति

1. **प्रो. दयानन्द भार्गव**
पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राजस्थान)

2. **प्रो. अरूण मुखर्जी**
पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन
जादवपुर विश्वविद्यालय
कोलकाता

3. **प्रो. कुसुम जैन**
विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राजस्थान)

4. **डॉ. विमला भण्डारी**
पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राजस्थान)

5. **प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी**
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ (राजस्थान)

6. **प्रो. समणी चैतन्यप्रज्ञा**
आचार्या एवं विभागाध्यक्ष
जैन विद्या विभाग,
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ (राजस्थान)

7. **प्रो. ऋजुप्रज्ञा**
आचार्या, जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ (राजस्थान)

8. **डॉ. शुभ प्रज्ञा**
सहायक आचार्य
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ (राजस्थान)

लेखक

प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

संपादक

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 3000

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ – 341306 (राजस्थान)

Printed at

M/s Nalanda Offsets, Jaipur

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रस्तावना

जैन धर्म-दर्शन के इतिहास को जानने के लिए उनकी परम्परा को जानना आवश्यक है। भारतवर्ष की दो प्राचीन परम्पराएँ हैं—श्रमण परम्परा और ब्राह्मण परम्परा। भगवान महावीर के समय श्रमण परम्परा के चालीस से अधिक सम्प्रदाय थे। वर्तमान में केवल दो सम्प्रदाय उपलब्ध हैं—जैन और बौद्ध। यों तो जैन परम्परा अनादि है किन्तु वर्तमान कालचक्र के अनुसार जैन परम्परा के मूल स्रोत भगवान ऋषभ माने जाते हैं। भगवान ऋषभ से भगवान अरिष्टनेमि तक का काल प्रागैतिहासिक है। भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर ऐतिहासिक पुरुष हैं। वर्तमान में भगवान महावीर का शासन चल रहा है। उनकी परम्परा ढाई हजार वर्ष से अधिक समय की हो गई है। इस अवधि में अनेक समर्थ आचार्य हुए हैं। उन्होंने विद्या और आचार के क्षेत्र में अनेक कार्य किए हैं। भारतीय संस्कृति के संवर्धन और पल्लवन में उनका महत्त्वपूर्ण अवदान रहा है। जैन विद्या स्नातक प्रथम वर्ष का यह द्वितीय पत्र **'जैन इतिहास और संस्कृति'** निम्नलिखित पाँच इकाइयों में विभक्त है—

१. भगवान ऋषभ से पार्श्व तक

२. भगवान महावीर और उनकी उत्तरवर्ती परम्परा

३. जैन साहित्य

४. जैन संस्कृति

५. चिन्तन के विकास में जैन दर्शन का योगदान

जैन दर्शन के इतिहास को जानने के लिए भगवान ऋषभ से लेकर वर्तमान युग तक की यात्रा तय करनी आवश्यक है। साथ ही विशाल जैन वाङ्मय का सिंहावलोकन भी अपेक्षित है, जो प्राकृत, संस्कृत तथा अनेक प्रादेशिक भाषाओं में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

जैन संस्कृति, श्रमण संस्कृति की सशक्त धारा है, जिसने संयम, अहिंसा, व्रत आदि से जन-जीवन को आप्लावित किया है तथा चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला आदि से कला-जगत् को महिमामंडित भी किया है। चिन्तन के विकास में भी जैन दर्शन का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय (जैन विश्वभारती संस्थान मान्य विश्वविद्यालय) के निदेशक डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी ने ''जैन इतिहास और संस्कृति, स्नातक प्रथम वर्ष (द्वितीय पत्र)'' के लेखन का कार्य मुझे दिया। इस पत्राचार के लेखन में अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञजी की महत्त्वपूर्ण कृति 'जैन परम्परा का इतिहास' को आधार बनाया गया है तथा उन्हीं के मंगल आशीर्वाद एवं प्रेरक संबोध से यह कार्य सम्पन्न हो सका है। डॉ. साध्वी श्रुतयशाजी ने पुस्तक को आद्योपान्त पढ़कर इसको संपादित किया है। कम्प्यूटर टंकण का कार्य मोहन ने जिम्मेदारी के साथ कुशलतापूर्वक किया है। सभी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता और आभार अभिव्यक्त करती हूँ।

आशा है जैन इतिहास और संस्कृति का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी-वर्ग के लिए यह कार्य उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुक्रम

		पृष्ठ संख्या
संवर्ग-1 :	**भगवान ऋषभ से पार्श्व तक**	**01-26**
	1. जैन धर्म और इसकी प्राचीनता	
	2. कालचक्र और कुलकर व्यवस्था	
	3. भगवान ऋषभ का जीवन-दर्शन और भरत का अनासक्त योग	
	4. भगवान अरिष्टनेमि और भगवान पार्श्वनाथ	
संवर्ग-2 :	**भगवान महावीर और उनकी उत्तरवर्ती परम्परा**	**27-49**
	1. भगवान महावीर का जीवन और साधना	
	2. गणधरवाद और निह्नव	
	3. भगवान महावीर के समकालीन धर्म-सम्प्रदाय और जैन धर्म के मुख्य सम्प्रदाय	
	4. श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्य	
संवग-3 :	**जैन साहित्य**	**50-64**
	1. आगम वाचना और आगम विभाजन	
	2. आगमों का व्याख्या साहित्य एवं उत्तरवर्ती साहित्य	
संवर्ग-4 :	**जैन संस्कृति**	**65-86**
	1. जैन संस्कृति की विशेषताएँ और जैन पर्व	
	2. जैन कला, तीर्थस्थल तथा जैन धर्म के प्रचार में राजाओं का योगदान	
	3. जैन धर्म : भारत के विविध अंचलों में और विदेशों में, जैन धर्म : विकास और ह्रास	
संवर्ग-5 :	**चिन्तन के विकास में जैन दर्शन का योगदान**	**86-101**
	1. भगवान महावीर और जनतन्त्र तथा अनेकान्तवाद	
	2. जातिवाद की अतात्विकता और साध्य-साधनवाद	
	3. अनुकम्पा और नैतिकता की अवधारणा	
प्रश्न बैंक		**102**
सन्दर्भ ग्रंथ		**103**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun